हिंदी की
प्राचीन और नवीन काव्य-धारा

(हिंदी की पुरानी और नई रंगत की कविता की
तुलनात्मक समीक्षा)

लेखक
सूर्यबली सिंह, एम. ए.
"साहित्यरत्न"

प्रकाशक
नंदकिशोर ऐंड ब्रदर्स
बनारस

प्रथमावृत्ति] शारदीय नवरात्र, १९९६ [

जिस 'तीर्थ' के दर्शन एवं मार्जन के पुण्य से मेरा मानस-
हंस नीर - क्षीर - विवेक की ओर उन्मुख
हुआ उसी की उपासना में 'धारा'
की यह अंजलि सादर
समर्पित।

अंतेवासी—

सूर्यवली सिंह

परिचय

"हिंदी की प्राचीन और नवीन काव्याधारा" में श्रीसूर्य-वली सिंह जी एम० ए० ने दोनों धाराओं की विभिन्नता प्रकट करनेवाली बहुत सी विशेषताओं का अच्छा उद्घाटन किया है। इन विशेषताओं की ओर ध्यान देने से दोनों प्रकार की कविताओं के स्वरूप का परिचय और वर्तमान कविता की भिन्न भिन्न शाखाओं का आभास मिल जाता है। हमारे काव्यक्षेत्र में ज्यों ज्यों अनेकरूपता का विकास होता जायगा त्यों त्यों ऐसी पुस्तक की आवश्यकता बढ़ती जायगी। अतः हमें पूरी आशा है कि यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी और सूर्यवली सिंह जी बराबर अपने साहित्य की गतिविधि इसी प्रकार परखते रहेंगे।

रामचंद्र शुक्ल

अंतर्दर्शन

हिंदी की नवीन काव्यधारा बहुतों को अनिर्वचनीय भंगिमाओं के साथ प्रवाहित होती हुई प्राचीन काव्यधारा से बहुत दूर दिखलाई पड़ती है। कोई पहली धारा को अनाविल अमृतमय पवित्र स्रोतस्वती कहता है और दूसरी को विषमय आविल-जल-प्रणाली मात्र। रूपकों की लपेट में मनमाने उद्गार किए जा रहे हैं। ऐसे लोगों का अज्ञान दूर करने और उनका मुँह थामने के लिए इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता थी कि कोई कुशाग्र-बुद्धि समालोचक दोनों धाराओं को भली भाँति हृदयंगम करके उनके स्वरूपों का उद्घाटन करता और निष्पक्ष दृष्टि से उनकी विशेषताएँ पृथक् पृथक् करके सामने रखता। बाबू सूर्यबली सिंह ने प्रस्तुत पुस्तक में यही किया है।

संस्कृत-साहित्य में रीतिशास्त्र का जैसा विवेचन हो चुका है और वह जैसे पुष्ट आधार पर खड़ा हुआ है वैसा पाश्चात्य

देशों में अब तक नहीं हो पाया। वहाँ के कुछ स्वच्छ-दृष्टि-संपन्न समीक्षक अपने ढंग से अन्वेषण करते हुए उसी उच्चभूमि पर पहुँचने का प्रयत्न करते हुए दिखाई पड़ते हैं जिसकी प्रतिष्ठा संस्कृत के समृद्ध ग्रंथों में बहुत पहले हो चुकी है। इसलिए यह कहने में अब किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं कि हम अपनी प्राचीन मानतुला पर संसार के किसी भी साहित्य के गुण-दोष की सम्यक् समीक्षा कर सकते हैं। हाँ, आवश्यकता केवल इस बात की है कि समीक्षक अत्यंत सावधानी के साथ शास्त्रीय धारणाओं का उपयोग करें। इसी लिए नवीन कविता में जिस प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है उसे भली भाँति वही लक्षित कर सकता है जो यहाँ के रीतिशास्त्र से भी पूर्णतया परिचित हो। नवीन कविता की अभिव्यंजना पर मस्त होकर सिर मटकाने वाले तो बहुत से देखे जाते हैं, पर उनमें सहृदय होते ही कितने हैं! बिना भली भाँति समझे-बूझे नवीन कविता का ज्ञाता होने का दावा करना और वाग्जाल में फँसा कर कच्चे हृदय वाले पाठकों को धोखा देना बहुत बड़ा साहित्यिक अपराध है।

बाबू साहब की दृष्टि बहुत साफ है और समीक्षा की शैली खूब बँधी हुई। इसी लिए रीतिशास्त्र की सुदृढ़ एवं खरी कसौटी पर आपने दोनों कविताओं को भली भाँति परख कर उनका प्रकृत रूप दिखलाने का अच्छा प्रयास किया है। शास्त्रीय रस-चक्र को भी आपने ऐसे कटकीने से प्रवर्तित किया है कि इससे भयभीत

रहने वाले भी सहर्ष इसकी शरण लेंगे। काव्य-समीक्षा के लिए आपने विभावपक्ष, भावपक्ष और कलापक्ष—ये तीन पक्ष लिए हैं। प्राचीन परंपरा के मेल में विभावपक्ष को भी विचार के लिए लेकर आपने व्यर्थ और शुद्ध वाग्विसर्ग करने वाले नई रंगत के समालोचकों को समीक्षा के सच्चे मार्ग का पता दिया है, क्योंकि हृदय और कला की पुकार तो उनमें अत्यधिक रहती है, किंतु विभाव की ओर वे देखना भी नहीं चाहते। बिना रोक-टोक के नवीन कवियों में विभावपक्ष अत्यंत शिथिल होता जा रहा है। यही कारण है कि पुरानी कविता से जैसा 'विभावन' होता है, नई कविता से नहीं।

जो लोग नवीन कविता में सर्वत्र नवीनता ही नवीनता देखते हैं उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि नवीनता वर्ण्य विषय की नहीं, शैली की होती है, इसे प्राचीन काल से लोग उद्घोषित करते आ रहे हैं—

त एव पदविन्यासास्ता एवार्थविभूतयः ।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथनकौशलात् ॥

'ग्रथनकौशल' का जैसा अतिरेक नवीन कविता में देखा जाता है वैसा पहले नहीं था, लोग संयत होकर लिखते थे। काव्य-शरीर का कोई अंग अत्यधिक फूला हुआ और कोई एकदम पिचका हुआ नहीं होता था। भाषा को लीजिए तो 'साधुता सोचति' और 'बिलसति खलई' तुलसीदासजी तक लिख चुके हैं, घनानंद की रचना तो ऐसे प्रयोगों का भांडार है; पर वे लोग 'अभिलाषाओं

की करवट' और 'दौड़ी पड़ती है व्रीड़ा' तक नहीं गए। अतः प्राचीन और नवीन दोनों धाराओं के सच्चे गुणों और साथ ही दोषों को भी दृढ़ता के साथ सामने करने की आवश्यकता थी। हर्ष की बात है कि बाबू साहब ने बड़े धैर्य और साहस के साथ ऐसा ही किया है। पुस्तक अपने ढंग की पहली रचना है। इसके द्वारा नवीन कविता की समीक्षा की प्रस्तावना हो गई, रंगमंच पर अब अन्य समालोचक भी आएँ तो समालोचना के द्वारा काव्य-धारा के निरीक्षण का मार्ग भी सुगम होता चले और उसके प्रवाह का रूप भी संयत हो जाय।

शारदीय नवरात्र, १९९६
ब्रह्मनाल, काशी।

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

आत्मनिवेदन

आज से कोई चार वर्ष पूर्व जब मैं काशी में हिंदी की नवीन धारा वाले कवियों का अध्ययन कर रहा था, एक दिन मेरे मन में आया कि हिंदी की प्राचीन और नवीन काव्य-धारा की तुलनात्मक समीक्षा क्यों न कर डालूँ ! पर गुरुवर आचार्य पं० रामचंद्र जी शुक्ल की कतिपय पुस्तकों की ओर ध्यान जाते ही मेरा साहस छूटने लगा। जो कुछ कहना था वह तो आचार्यजी ही कह गए, मैं नई बात क्या लिखूँगा ! पर यह विषय मुझे इतना रुचिकर प्रतीत हुआ कि मैं अपनी इच्छा अपने परम प्रिय पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र से प्रकट किए बिना न रह सका। उन्होंने अपनी प्रकृति के अनुसार इस विषय पर लिखने के लिए मुझे खूब प्रोत्साहित किया। पर मेरा असंतोषी मन फिर भी दृढ़ न हुआ और मैं अपने पूज्य आचार्यजी की सेवा में इसकी संमति लेने के लिए गया। उन्होंने भी वही कहा जो मिश्रजी ने कहा था। अस्तु, यह मान कर कि हिंदी-कविता के शास्त्रीय विवेचन के लिए अभी लंबा-चौड़ा मैदान पड़ा है, मैं लौटा और कार्य में लग गया। ईश्वर की कृपा से मुझे आचार्य शुक्लजी का निरीक्षण प्राप्त हो गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी का मेरा सारा ज्ञान, यदि कुछ है तो वह, सब प्रधानतः आचार्यजी का ही प्रसाद है। इस प्रबंध में उन्होंने पग-पग पर मेरी कठिनाइयाँ दूर की हैं।

जिस समय यह प्रबंध लिखा जा रहा था उस समय मेरे पास पुस्तक लिखने के समस्त साधन उपस्थित थे। काशी के उत्साही नवयुवक साहित्य-

प्रेमी श्रीमान् सेठ मुरारीलालजी केडिया के 'श्रीरामरत्न-पुस्तक-भवन' का द्वार तो मेरे लिए बराबर उन्मुक्त रहा। पर घटनाचक्र से मैं ऐसी जगह आ पहुँचा, जहाँ मुझे अपने प्रबंध की ओर देखने का कभी अवकाश तक नहीं मिला। अस्तु, प्रबंध ज्यों का त्यों पड़ा रहा, परंतु पं० विश्वनाथ-प्रसादजी जिस प्रकार स्वयं लिखते रहते हैं, उसी प्रकार अपने साथियों को लिखने के लिए प्रेरित भी करते रहते हैं, सैकड़ों कोस की दूरी पर होते हुए भी वे मुझे प्रबंध पूर्ण करने के लिए उकसाते रहे और उसे मेरे मस्तिष्क-पटल से विलग नहीं होने दिया। फल-स्वरूप आज यह प्रबंध पूरा कर सका हूँ। इसकी क्या विशेषताएँ हैं, यह बतलाना पाठकों का काम है, मेरा नहीं।

इस प्रबंध के लिखने में जिस प्रकार शुक्लजी और मिश्रजी का हाथ है उसी प्रकार पं० रामकिशोर शर्मा का भी, जो मेरे प्रबंध की प्रति-लिपि करने में कभी थके नहीं, और जिन्होंने अब उसके इस पुस्तक रूप की पूरी प्रतिलिपि तैयार करके अपने सहयोगीपन का पक्का परिचय दिया है। किंतु इन तीनों से मेरा ऐसा संबंध है कि इन्हें धन्यवाद देना अपने को पराया सिद्ध करना या स्वयम् अपने को ही धन्यवाद देना है। अस्तु, मैं परंपरा से चली आती हुई धन्यवाद देने की परिपाटी का माननेवाला होते हुए भी इस त्रिमूर्ति के प्रति सच्ची कृतज्ञता प्रकट करने के लिए शब्द नहीं पा रहा हूँ। भगवान् मेरी इस असमर्थता के लिए क्षमा करें।

मित्र-मंदिर, रीवा
रक्षाबंधन, सं० १९९६ वि०

सूर्यबली सिंह

विषय-सूची

—*—

हिंदी की

नवीन और प्राचीन काव्य-धारा

विषय-सीमा

"The old order changeth yeilding place to new." महाकवि टेनीसन का यह कथन कितना सत्य है! प्राचीनता का पतन और नवीनता का उत्थान ही परिवर्तन है जिसमें संसार के मूल और विकास का कारण छिपा हुआ है। संसार-क्षेत्र में परिवर्तन का अनवरत प्रवाह प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न रूप में सदा वहा करता है। इस प्रवाह में जगत् की रूढ़ियों की जर्जर जड़ विनष्ट होती रहती तथा नवीनता की लता हरी-भरी हो पल्लवित तथा कुसुमित होती रहती है। इसका फल कभी अमृत-मय होकर समाज को इतिहास में अमर बनाता और कभी विषाक्त होकर उसका अस्तित्व ही नष्ट कर देता है। कुछ भी हो, देश और काल उसे चखने के लिए सदा सन्नद्ध रहते हैं, साथ ही परिवर्तन का स्वरूप भी ग्रहण करते जाते हैं। पर मनुष्य जिस प्रकार

सामाजिक प्रवृत्ति के कारण

शारीरिक परिश्रम से दूर भागता है, उसी प्रकार मानसिक से भी। वह सदा दूसरों के परिश्रम के फल को चखना चाहता है। अतः वह महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अवलंबन किए आँख बंद कर चलता रहता है। उसे उसको छोड़ने में वेदना होती है, महाजनों की विचार-धारा से अलग होना उसके लिए दुष्कर हो जाता है। समय पर यही निष्क्रियता रूढ़ि-प्रेम को जन्म देती है और प्राचीन रूढ़ि जीवन की भाँति प्रिय हो जाती है। उसकी रक्षा के लिए हम मरते और मारते दिखाई पड़ते हैं। परिणाम यह होता है कि समाज की गति रुक जाती है। किंतु वह स्वभाव से गत्यात्मक (dynamic) है। अतएव प्रच्छन्न रूप से परिवर्तन का प्रभाव पड़ता जाता है, किंतु लोग उसे निर्दिष्ट स्वरूप नहीं दे सकते। इसके लिए किसी महापुरुष की आवश्यकता होती है। देश और काल के पूर्णतया तैयार हो जाने पर—सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों के बन जाने पर—किसी महापुरुष का आविर्भाव होता है जो परिवर्तन को विशिष्ट स्वरूप देता है और उसे समाज के संमुख स्पष्ट रूप में उपस्थित करता है। समाज उसे अपनाने के लिए पहले ही से तैयार रहता ही है। जब उसे पा जाता है तब वह उल्लास और उत्साह से भर जाता है, उसकी निष्क्रियता दूर हो जाती है, उसमें नए जीवन का संचार हो जाता है और सक्रिय होकर विकासवाद के सिद्धांत का एक ज्वलंत प्रमाण बन जाता है। सारांश यह कि परिवर्तन स्वाभाविक है—और उसको स्वीकार (recognise) करने वाले देश और काल

हैं। पर उसकी प्रतिष्ठा करने के लिए, उसे विशिष्ट स्वरूप देने के लिए—महापुरुषों की आवश्यकता होती है जो समाज को नवीनता देती है। ठीक यही बात हिंदी-काव्य के संबंध में भी समझनी चाहिए।

प्रवृत्त्यनुसार हिंदी-कविता का काल-विभाजन

प्रेम और युद्ध का जो गान हिंदी ने अपनी शैशवावस्था में गाया, वह उसकी किशोरावस्था में नीरस हो गया। जनता की परिस्थिति और रुचि के परिवर्तन के साथ ही हिंदी ने भी अपनी रागिनी बदल दी। इसलिए प्रतापी 'सूर' लोक-रंजनकारी 'शशि' हो गया। उससे जो सागर उमड़ा उसने पीड़ित, श्रमित और जर्जर जनता के मन की सारी मलिनता और विरूपता, हृदय की सारी निष्क्रियता और कुरूपता धोकर बहा दी और उसमें "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" का पाठ पढ़ाने वाले मुरारि के स्थान में लोक-रंजनकारी लीलापुरुषोत्तम श्याम की सुंदर मूर्ति की स्थापना कर उसे परम ज्योति से जगमगा दिया। युद्धोत्साह की उमंग के शांत होने पर जो खिन्नता, उदासी और अकर्मण्यता फैल रही थी वह हटी और भगवान् का आनंदमय स्वरूप सामने लाया गया। इसके साथ ही तुलसी का मानस उमड़ा। उसने सूर-सागर को भी मात कर दिया। राजा-रंक, गृहस्थ-विरक्त, साधक-सिद्ध, पंडित-मूर्ख सभी ने उसमें गोते लगाए और उन सबको मनमाना फल मिला। आज भारत दरिद्र है, पर उस मानस की

मुक्ताओं से वह धनी बना हुआ है। सबका पानी चला गया है, पर उन मोतियों के पानिप में किसी प्रकार अंतर नहीं पड़ा है। संकट के समय में मोतियों की रक्षा जनता ने और जनता की रक्षा उन्होंने की। तब से राम हमारे काम के हो गए और सदा सुख-दुःख में हमारे साथ रहते दिखाई देते हैं।

हिंदी-कविता ने अपने तीसरेपन में फिर रंग बदला। अपनी कविताओं को लक्षण-ग्रंथों के भीतर रखकर दिखाने की प्रवृत्ति हुई। साथ ही शृंगार-रस का ऐसा प्रवाह आया जिसमें सभी हिंदी-भाषा-भाषी बह चले। भूषण ऐसे दो एक कवियों ने उन्हें उससे निकालने का प्रयत्न भी किया। किंतु रस-मग्नों में से किसी ने अपना हाथ नहीं बढ़ाया। बढ़ाते भी कैसे? भूषण ही के पैर न जमे थे, वे दूसरों की सहायता क्या करते? समाज की प्रवृत्तियों का रंग उन पर भी अच्छी तरह चढ़ा हुआ था, उसके घेरे के बाहर वे भी नहीं हो सकते थे। शृंगार का पिंड छोड़ कर भी वे रीतिग्रंथ लिखने के लोभ का संवरण न कर सके थे। अस्तु, भूषण का अनुसरण नहीं हुआ; कवि-समाज ज्यों का त्यों बना रहा। वह शृंगार रस की तंग नालियों में ही डूबता-उतराता रहा। अलंकारों के आग्रह का परिणाम यह हुआ कि काव्य का स्वरूप बहुत कुछ विकृत हो गया, साधन साध्य बन गया, कलाबाजी ने राग-तत्त्व को मार भगाया। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बहुतों की कविता निर्जीव हो गई। साहित्य के दूसरे अवयवों की उस समय चर्चा ही न थी। नाट्यकला का अंत तो

ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में ही हो चुका था । गद्य का रूप स्थिर न होने के कारण उपन्यास आदि का लिखा जाना दूर की बात थी, इतिहास आदि गद्यग्रंथ तो संभवतः स्वप्न की वस्तुएँ थीं। जब विचार ही में स्थिरता आ गई थी तो नई नई उद्भावनाएँ कैसे आतीं ? जब समाज में उत्साह और उमंग ही नहीं थी तो साहित्य के दूसरे अवयवों की पूर्ति कहाँ से होती ?

साहित्य की ऐसी ही शोचनीय परिस्थिति में भारतेंदु का उदय हुआ जिसकी शुभ्र ज्योत्स्ना में हिंदी-साहित्य का स्वरूप निखर गया। उसके अमृत-वर्षण से साहित्य सजीव हो उठा। कविता-कामिनी चमक उठी। यह हिंदी की चौथी अवस्था है। इस काल को हम वर्तमान काल और इस समय की कविता को नवीन कविता कहते हैं। इसी कविता का विवेचन कर इसका पूर्व कविता से सामंजस्य स्थापित करना और परिवर्तन के स्वरूप का स्पष्टीकरण करना प्रस्तुत पुस्तक का विषय है।

आधुनिक काल का विभाजन

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के समय से लेकर आज तक की कविता का यदि हम सिंहावलोकन करें तो हमें तीन बातें स्पष्ट दिखाई देंगी :—

१—प्रारंभ में प्राचीन विषयों के साथ नवीन का संचार।

२—समन्वय शृंखला को लिए हुए प्राचीनता का ह्रास और नवीनता की प्रचुरता।

३—विषय और पद्धति दोनों में नवीन और प्राचीन की अधिक स्पष्टता।

भारतेंदु बाबू एक ओर तो समझाते हैं *"यहि पाखैं पतिव्रत ताखैं धरो" और दूसरी ओर "हा हा भारत-दुर्दशा न देखी जाई" का रोना रोकर समाज को नए धर्म की शिक्षा देते हैं। प्रतापनारायण जी भी एक ओर तो—

"बनि बैठी है मान की मूरति सी मुख खोलत बोलत 'नाहीं' न 'हाँ'।
तुम हीं मनुहार कै हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहाँ।
बरसा है प्रताप जू धीर धरो अब लौं मन को समझाओ जहाँ।
यह ब्यारि तबी बदलैगी कछू पपिहा जब पूछिहैं 'पीव कहाँ'।"

का पुराना राग छेड़ कर अपने पुराने भाइयों को रस-मग्न करते हैं और दूसरी ओर नवयुवकों को

"चाहहु जो साँचो कल्यान,
तो सब मिलि भारत संतान।
जपो निरंतर एक जबान,
हिंदी हिंदू हिंदुस्तान।"

का नया मंत्र देकर उनमें उत्साह भरते और नया पथ दिखलाते हैं। इस प्रकार इस समय एक ही कवि में प्राचीनता और नवीनता दोनों पाई जाती हैं; पर अलग अलग। इसके अनंतर समन्वय-

---

* यह सावन सोक-नसावन है मनभावन या मैं न लाजै भरो।
जमुना पै चलौ सु सबै मिलि कै अरु गाइ बजाइ कै सोक हरो।
इमि भाषत है 'हरिचंद' प्रिया अहो लाड़िलि देर न या मैं करो।
बलि झूलो झुलाओ झुको उझको यहि पाखैं पतिव्रत ताखैं धरो।

शृंखला को लिए हुए प्राचीनता का ह्रास और नवीनता की प्रचुरता दिखाई पड़ती है। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास' में समन्वय की यह प्रवृत्ति अच्छे प्रकार से लक्षित होती है। विषय पुराना होते हुए भी उसके कृष्ण आधुनिकता लिए हुए हैं। इधर मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' में विषय नवीन है, पर अभिव्यंजना का कोई नया विधान नहीं दिखाई देता। आगे चल कर प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी वर्मा इत्यादि में प्राचीनता ढूँढ़ने से मिलती है, उनमें नवीनता की ही प्रचुरता मिलती है। अब प्राचीन और नवीन का अंतर बहुत अधिक और स्पष्ट हो गया है। रत्नाकर, वियोगी हरि इत्यादि प्राचीन परिपाटी के जो कवि इधर रहे हैं या हैं उनकी कविता से नवीन कविता बहुत दूर दिखाई देगी। वियोगी हरि विरहिणी गोपिकाओं और देश-सेविकाओं को वीरों में गिनकर भी नए कैंड़े के कवि न हो सके। यह ठीक है कि समन्वय-बुद्धि दोनों प्रकार के कवियों में मिलती है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। यदि समन्वय का अभाव होता तो नवीनता आकाश से टूटी हुई कोई अलौकिक वस्तु बन जाती, परिवर्तन की धारा छिन्न-भिन्न दिखाई पड़ती और विकासवाद के सिद्धांत का नाम ही नाम रहता। समन्वय-शृंखला ही उसे लौकिक बना सकी है। यहाँ पर एक बात और ध्यान देने की है। खड़ी बोली के आरंभिक काल में भाव-व्यंजना की पूर्ण क्षमता उसमें न थी, अतः उस समय लोगों का ध्यान भाषा की ओर विशेष था—भाव-व्यंजना और

काव्योचित उद्भावनाओं की ओर कम। अतएव इस काल में जो रचना हुई, वह इतिवृत्तात्मक ही रही। इससे ऊब कर नई रंगत के कवियों की प्रवृत्ति वक्रता की ओर अधिक हुई। फल यह हुआ कि कविता में अभिव्यंजना की प्रधानता हो गई।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक काल को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१—आदि परिवर्तन काल (प्राचीन-पद्धति-प्रधान कविता)।

२—मध्य परिवर्तन काल (इतिवृत्तात्मक कविता)।

और ३—वर्तमान काल (अभिव्यंजना-प्रधान कविता)।

इन्हें क्रम से भारतेंदु काल, द्विवेदी काल और प्रसाद काल के नाम से भी पुकार सकते हैं। इस विभाजन का तात्पर्य यह है कि नवीन कविता का प्रारंभ तो भारतेंदु के समय से ही हो चला था, पर प्रसाद काल के पूर्व नवीनता का इतना अधिक विकास नहीं हुआ था। उक्त काल की कविता यद्यपि आधुनिक काल के भीतर की है तथापि मेरे विवेचन का विषय केवल वर्तमान काल की कविता होगी जिसे प्रसाद काल की कविता के नाम से अभिहित किया गया है।

काव्य के अंगों का विभाजन

कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्तमान काल की अर्थात् प्रसाद काल की कविता और भारतेंदु काल की कविता के स्वरूपों में बड़ा अंतर है। इस परिवर्तन के स्वरूप को समझने के लिए काव्य के अंगों का विभाजन अनिवार्य है। अतः यहाँ पर उस पर विचार कर लेना चाहिए।

हमारे चारो ओर दृश्य जगत् का प्रसार है। इसी जगत् या इसके व्यापारों को देखने से हमारे मन में कुछ विकार उत्पन्न हुआ करते हैं। ये विकार उत्पन्न होने के पश्चात् या तो पड़े पड़े जहाँ के तहाँ नष्ट हो जाते हैं या संस्कार रूप में वच रहते हैं। संस्कार रूप में पड़े हुए विकार ही परिस्थिति विशेप में उद्दीप्त हो उठते हैं और वे इतनी तीव्रता से उद्दीप्त होते हैं कि मनुष्य के लिए उन्हें अपने मन ही तक परिमित रखना दुष्कर हो जाता है। तव मनुष्य उन मनोविकारों को समाज पर व्यक्त करना चाहता है। इसके

लिए उसे प्रेषणीयता की आवश्यकता होती है। इस शक्ति को बढ़ाने—अपने कहने के ढंग को सुंदर बनाने—के लिए उसे अनेक उपाय करने पड़ते हैं। यहीं पर 'हृदय की मुक्तावस्था', जो दृश्य जगत् के देखने से प्राप्त होती है, कविता का स्वरूप धारण करने लगती है और मनोविकार भाव कहलाने लगते हैं। प्रेषणीयता का सुंदर विधान इतना महत्त्वपूर्ण है कि कभी कभी आचार्य लोग मनोविकारों अथवा भावों को भूल कर प्रेषण की इस पद्धति (अभिव्यंजना) को ही कविता मान बैठते हैं। इस प्रकार काव्य के दो प्रधान पक्ष हो जाते हैं—भाव और कला। पर इतने ही से काव्य का सम्यक् स्वरूप नहीं उपस्थित होता। दृश्य जगत् जो भावों का प्रवर्तक है बच ही जाता है। अतः कविता का एक पक्ष दृश्य जगत् भी है जिसे शास्त्रीय शब्द में विभाव कहते हैं।* सारांश यह कि परिवर्तन के स्वरूप को समझने के लिए हमें काव्य के तीन पक्षों—

१—विभाव पक्ष।

२—भाव पक्ष।

और ३—कला पक्ष।

को लेकर चलना पड़ेगा।

---

* "भाव से अभिप्राय संवेदना के स्वरूप की व्यंजना से है, विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है।"

—काव्य में रहस्यवाद।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे पता चलता है कि दृश्य जगत् और उसके व्यापार हमारे सामने दो रूपों में आते हैं। कभी तो वह हमारे मनोविकारों का कारण होता है और कभी पहले से उठे हुए भावों को और भी उद्दीप्त कर देता है। उसके या उसके व्यापारों के इन दो रूपों को साहित्य-शास्त्री दो भिन्न नामों से अभिहित किया करते हैं। पहले को वे 'आलंबन विभाव' और दूसरे को 'उद्दीपन विभाव' कहा करते हैं। समष्टि रूप में दृश्य जगत् शाश्वत है। इसलिए काव्य के विभाव पक्ष के वस्तुत्व में कोई अंतर नहीं पड़ा करता। किंतु प्रवृत्ति और परिस्थिति के परिवर्तन के साथ हृदय का योग कभी जगत् रूपी वस्तु के किसी रूप से हो जाता है और कभी किसी रूप से। इसलिए आलंबन के रूपों में बराबर अंतर पड़ा करता है। नए आलंबन भी आते रहते हैं और प्राचीनों का सर्वथा त्याग भी नहीं होता।

वर्तमान काल उक्त नियम का अपवाद नहीं हो सकता। जो आलंबन प्राचीन काल में थे प्रायः वे आज भी हैं। पर आज की सामाजिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक और धार्मिक परिस्थितियाँ प्राचीनकाल से भिन्न हैं; काव्य के आदर्श में भी अंतर आ गया है। अतः आधुनिक काल की कविता में कुछ आलंबनों की वृद्धि हुई है।

विभाव पक्ष

रतिभाव के प्राचीन और नवीन आलंबन

हमारे रतिभाव के आलंबन लौकिक और अलौकिक दोनों होते आए हैं। अलौकिक से मतलब उन आलंबनों से है जिन पर या तो ईश्वरत्व का आरोप किया गया है अथवा जिनका संबंध लोकांतर से है। किंतु कवि लोग उन्हें अलौकिक नहीं रख सकते। निर्गुणवादी कवियों तक ने काव्य-क्षेत्र में उन्हें लौकिक ही बना डाला। यही कारण है कि कबीर को 'राम की बहुरिया' बनना पड़ा जिसके कारण 'सेजिया' सम्हालना भी आवश्यक हो गया। जहाँ उन्होंने ऐसा नहीं किया है, वह शुद्ध काव्य के अंतर्गत आ सकता है, इसमें संदेह है। सूफी कवियों की रति भी अलौकिक के ही प्रति थी, पर काव्य-क्षेत्र में वह अलौकिक सत्ता लौकिक हो गई। सूरदास को "अबि-गत गति कछु कहत न आवै" के कारण 'सगुण लीला पद' गाना

पड़ा। उनके आलंबन कृष्ण और राधा इसी जगत् क्या भारत के ही प्राणी हैं। "कीन्हें प्राकृत-जन-गुन-गाना, सिरु धुनि गिरा लगति पछिताना।" का आदर्श रखने वाले तुलसी के "राम काम सतकोटि सुभग तन, दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन" काव्य-क्षेत्र में आकर लौकिक रूप में ही दिखाई पड़ते हैं—

"अरुन - चरन - पंकज - नख - जोती।
कमल - दलन्हि बैठे जनु मोती॥

× × ×

कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा।
नाभि गँभीर जान जेहि देखा॥
भुज बिसाल भूषनजुत भूरी।
हिय हरिनख सोभा अति रूरी॥

× × ×

कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई।
आनन अमित मदन-छबि छाई॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे।
नासा तिलक को बरनै पारे॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला।
अति प्रिय मधुर तोतरे बोला॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे।
बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥

पीत झँगुलिया तनु पहिराई।
जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥"

तुलसी के अनंतर जो कवि हुए उनके हृदय का योग लो-कांतर सत्ता से बहुत कम हुआ। अतः उनकी कविता में लौकिक आलंबन ही अधिक आए। अब वर्तमान समय में प्रवृत्ति अलौकिक आलंबन रखने की है। यहाँ तक कि जहाँ लौकिक आलंबन रहता है वहाँ भी अलौकिक रूप में दिखाया जाता है। यही कारण है कि आजकल की कविता में—

"दूर हँसते तारकों से रूठकर,
कंटकों की सेज पर सपने बिछा
मंद मारुत के करुण संगीत से,
सो गई मैं एक अलस गुलाब सी,
आँसुओं का ताज तब पहना गया
जो मुझे चुपचाप वह अलि कौन था?"

—महादेवी वर्मा

आलंबन इस रूप में आता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रवृत्ति के कारण आलंबन में अस्पष्टता आ जाती है जो अलौकिक के प्रति होने के कारण खटकती नहीं है। पर अलौकिक आलंबन ही अस्पष्ट रहता हो, ऐसी बात नहीं है। आजकल लौकिक आलंबन को भी अस्पष्ट बनाने में कवि-कर्म समझा जाता है। 'आँसू' ऐसे उत्कृष्ट प्रेमकाव्य में यह अस्पष्टता

बराबर बनी है। इस अस्पष्टता द्वारा स्थान स्थान पर आध्या-त्मिकता या रहस्य-भावना दिखलाने का अच्छा अवसर मिल जाया करता है जिससे लौकिक आलंबनों में भी अलौकिकता की झलक आ जाया करती है। अस्तु, आजकल की रतिभाव की रचना में अलौकिक आलंबन की ही प्रचुरता रहती है। उदा-हरण के लिए 'आँसू' से कुछ छंद नीचे दिए जाते हैं—

"बिजली माला पहने फिर
मुसकाता सा आँगन में
हाँ, कौन बरस जाता था
रसबूँद हमारे मन में?"

इस 'कौन' के कारण निम्नलिखित छंदों में आध्यात्मिकता का आभास बहुत सुंदर बन पड़ा है—

"गौरव था नीचे आए
प्रियतम मिलने को मेरे
मैं इठला उठी, अकिंचन
देखे ज्यों स्वप्न सवेरे

× × ×

शशि मुख पर घूँघट डाले
अंतर में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए"

अलौकिक व्यक्तियों से जब हम लौकिक व्यक्तियों की ओर आते हैं तो हमारी दृष्टि सबसे पहले तुलसीदास के "कीन्हें प्राकृत-जन-गुन-गाना, सिरु धुनि गिरा लगति पछिताना" की ओर जाती है। अलौकिक को लौकिक रूप में दिखाना यह प्रवृत्ति तो बराबर रही है। प्रारंभिक काल को—जिसे वीरगाथा काल कहा जाता है—छोड़कर शेष कालों में हम इस प्रवृत्ति का निर्वाह पाते हैं। यह बात दूसरी है कि पिछले खेवे के कवियों में कहीं इस व्यापक नियम का अपवाद भले मिल जाय या आदर्श का स्वरूप विकृत हो जाय, पर अधिकांश कवियों ने लौकिक रति को लेकर भी भगवत् रति की चोली अपनी कविता को पहनाई है—

"आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई
नतु राधिका - कन्हाई - सुमिरन को बहानो है"

—दास

"रसिक रीझिहैं जानि, तौ ह्वैहै कवितौ सफल
नतरु सदा सुखदानि, श्रीराधा हरि कौ सुजस"

—द्विजदेव

यद्यपि यह अंधपरंपरा-पालन ही है, तथापि उस समय की कविता देखने से जो लक्षित होता है उस ओर से आँख बंद करना उचित नहीं। अस्तु, आधुनिक काल के पहले की कविता देखने से स्पष्ट पता चलता है कि हिंदी-कविता का प्रधान विषय देवता रहे। थोड़ी सी कविता उच्च वर्ग के

मनुष्यों पर हुई; सामान्य मनुष्य कवियों की श्रद्धा या प्रेम के अधिकारी नहीं समझे गए। प्रेमाख्यानक कवियों तक ने प्रेम-कहानियों का नायक राजाओं को ही बनाया। रासो-साहित्य को यदि संदिग्ध मान कर छोड़ दें तो बेधड़क कह सकते हैं कि कवियों ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' मान कर निराकार अथवा साकार ब्रह्म का ही अधिकतर पल्ला पकड़ा। अनंत प्रकृति को भावों का उद्दीपन भले ही बनाया हो, पर उसे आलंबन होने का अधिकार रीति काल के कवियों ने नहीं दिया।

आधुनिक काल में हिंदी पर अँगरेजी साहित्य का प्रभाव पड़ा। लेखकों और कवियों का ध्यान इस बात पर गया कि प्रकृति के नाना दृश्य भी, जो हमें अपनी ओर आकर्षित करते हैं, काव्य के स्वतंत्र विषय हो सकते हैं। इस प्रकार प्रकृति-प्रेम को भी काव्य में स्थान मिला—वैसा ही जैसा कि संस्कृत के पुराने प्रबंध-काव्यों में पाया जाता है। श्रीधर पाठक, महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा और अनेक कवियों ने प्रकृति को आलंबन रख कर पद्यरचना की है। श्रीधर पाठक का 'काश्मीर-सुषमा' प्रकृति-वर्णन के लिए बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहा। 'छायावाद' नाम से प्रसिद्ध नए ढंग की कविताओं में भी अनंत प्रकृति की छटा का विस्तृत क्षेत्र पाया जाता है। 'चित्राधार', 'गुंजन' इत्यादि में प्रकृति की रमणीयता पर कवियों की दृष्टि स्पष्ट दिखाई देती है। यह और बात है कि बहुत से स्थलों पर प्रकृति के बहाने चैतन्य ज्योति ही देखी गई हो। पर इसमें संदेह नहीं कि रति का क्षेत्र व्यापक हुआ।

इंद्रधनुष, प्रभात, चंद्र, चाँदनी, बादल, वीचिविलास इत्यादि तक ही कविता की सीमा न रही, 'छाया' तक पहुँच गई। रोड़े-ढेले तक संभवतः कविता का विषय बनने योग्य समझे गए। यह भुला दिया गया कि कविता का भी अपना विषय होता है, सब विषयों पर कविता नहीं हो सकती। यह व्यर्थ की बात है कि यदि कवि में प्रतिभा है तो वह सामान्य से सामान्य वस्तु को लेकर अपना कवि-हृदय दिखला सकता है। वस्तुतः बात ऐसी है कि वह अपना कला-कौशल दिखला सकता है; अपने विषय को सजा सकता है; पर वह उसे उतना आनंददायक कदापि नहीं बना सकता। उसकी कलाबाजी की तारीफ हम कर सकते हैं, पर उसकी कृति में साधारण विषय होने के कारण वह अभाव रह जायगा जिसकी पूर्ति उसकी कला कदापि नहीं कर सकती।* उदाहरण के लिए सुमित्रानंदन पंत की 'छाया' शीर्षक कविता ले लीजिए। इस छोटी सी कविता के लिए जितना

---

* "Vainly will the latter (the Poet) imagine that he has everything in his own Power; that he can make an intrinsically inferior action equally delightful with a more excellent one by his treatment of it; he may indeed compel us to admire his skill, but his work will possess, within itself, an incurable defect."

—Mathew Arnold.

सुंदर और जितना अधिक अप्रस्तुत-विधान लाया गया है वह संभवतः इस युग की समस्त रचना में ढूँढ़ने से मिलेगा। पर उसे पढ़ने के पश्चात् कोई पूछ सकता है कि इसमें अभिव्यंजना के वैचित्र्य के अतिरिक्त और है क्या। कुछ भी हो पर इसमें संदेह नहीं कि कविता का विषय व्यापक हुआ। वर्षा के बीच गोस्वामी जी ने दामिनी की दमक मात्र देखी—

"दामिनि दमकि रह न घन माहीं।
खल के प्रीति जथा थिर नाहीं॥"

जायसी केवल "खड़्ग-बीजु चमकै चहुँ ओरा" और "चमक बीजु, घन गरजि तरासा" तक रहे। पर आधुनिक कविता में उसका स्वरूप बड़ा हो गया—

"ज्योतिमयी कृश कांचनवर्णी—
चंचल कौन गगन में हो?
प्रकट और फिर अंतर्हित हो
कौन अमित सी घन में हो?
क्या जादूगरनी हो कोई—
चकाचौंध फैलाती हो?
या कि व्यथित हो, कभी तड़पती
कभी मूक बन जाती हो?
या हो तपस्विनी बाला, या
प्रेम-विरहिणी हो विश्रांति?

या तुम देश-द्रोहिणी कोई

मचा रही हो ऐसी क्रांति ?

क्या तुम वासकसज्जा हो, जो

प्रियतम - बाट जोहती हो ?

गगन-द्वार से झाँक–झाँक कर

सबका चित्त मोहती हो,

या निशि की कालिमा देख

भयभीता हो छिप जाती हो ?

या लालची नैन वाली हो

प्रकृति देखने आती हो ?

प्रकृति-प्रणयिनी, नीर प्रणयिनी

मेघ-प्रणयिनी हो तुम कौन

कोई हो आओ बतलाओ

सखि चमकोगी कब तक मौन ?"

—रामेश्वरीदेवी 'चकोरी'

ऊपर कहा गया है कि पुराने कवियों ने अपनी रचनाओं का विषय उच्च वर्ग के मनुष्यों को ही बनाया था, क्योंकि प्राचीन काल में साधारणीकरण * पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इस

---

* काव्यगत पात्र जिस भाव का अनुभव जिस आलंबन के कारण करता हो वैसा ही अनुभव उसी आलंबन के साथ पाठक करे। यही साधारणीकरण है।

लिए आलंबन ऐसे लिए जाते थे जो प्रत्येक सभ्य के आलंबन हो सकते थे किंतु अब आदर्श बदल सा गया है। आजकल के कवि अपनी सहानुभूति लेकर चलते हैं। अस्तु, आधुनिक काल में कवियों की दृष्टि 'उपेक्षिताओं' की ओर भी गई। बाबू मैथिली-शरण गुप्त ने 'द्वापर' में उनके उद्धार का बीड़ा उठाया। पं० राम-नरेश त्रिपाठी ने 'राग-रथी रवि' के साथ पथिक को देखा। इस प्रकार सामान्य व्यक्ति भी कवियों के प्रेम, श्रद्धा, दया आदि के पात्र होने लगे। हृदय के भावों तथा और भी अमूर्त पदार्थों को मूर्तवत् और सजीव रूप में देखने की प्रवृत्ति पहले से बहुत अधिक हुई—मुक्तकों में ही नहीं प्रबंधों में भी इस प्रकार की रचना होने लगी—

"वेदने, तू भी भली बनी
पाई मैंने आज तुझी में, अपनी चाह घनी।
नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर-कनी
सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय विशिख-अनी!
ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगंबु - सनी,
तू ही उष्ण उसे रक्खेगी मेरी तपनमनी
आ अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्टजनी!
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी!
अरी वियोग-समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची-तनी
मन सा मानिक मुझे मिला है तुझमें उपल-खनी!"

पुराने कवियों ने भी अमूर्त और निर्जीव को मूर्त और सजीव रूप में रख कर कविताएँ की हैं। विरह-काव्यों में मन, हृदय और आँख इत्यादि को खूब फटकारा गया है। पर व्यक्तिगत अनुभूति को अभिव्यंजित करने का जितना प्रयास आधुनिक कविता में दिखाई पड़ता है उतना प्राचीन कविता में नहीं। पुराने कवियों ने स्त्री और पुरुष के शरीर-सौंदर्य की ओर ही विशेष ध्यान दिया। उनके अंतर्जगत् में जो परम सौंदर्य छिपा हुआ है उस पर विशेष दृष्टि नहीं डाली। आजकल की कविता भौतिक जगत् से ऊबी सी और मानस जगत् की ओर अधिक उन्मुख दिखाई पड़ती है।

उत्साह के प्राचीन और नवीन आलंबन

रति की भाँति उत्साह भी आनंदात्मक भाव है। आनंदपूर्ण साहस को ही उत्साह की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार का साहस हमारे साहित्य-शास्त्रियों ने दयालुओं, धार्मिकों, दानियों और योद्धाओं में ही माना है। ये वीर भी शृंगार रस के नायकों की भाँति उच्च व्यक्ति या देव होते थे। आज के पहले देशसेवा का इतना बड़ा महत्त्व नहीं था। देश अथवा राज्य की रक्षा का भार राजाओं पर ही था जिनके लिए युद्धवीर होना अनिवार्य था। सर्वसाधारण पर देश-रक्षा का दायित्व न था। राष्ट्रीय भावना का ह्रास हर्ष के समय से ही हो चुका था। पर बीसवीं शती में देश का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया,

जिससे राष्ट्रीय भावना जग उठी। देशसेवा साहसपूर्ण काय समझा जाने लगा। युद्धकाव्यों में वीर रस के आलंवन योद्धा शत्रु ही हुआ करते थे। पर देशसेवा रूप साहसपूर्ण कर्म में देशद्रोही या देशपीड़क आलंवन हुए। देश के लिए लाठी खाने और जेल जाने में लोग हर्ष और गौरव मानने लगे। अतः आजकल उत्साह के प्रकाश के लिए एक नया क्षेत्र देशसेवा का मिला। इसमें देशसेवक उच्च वर्ग के व्यक्ति भी हो सकते हैं और निम्न कोटि के भी। कवियों या आचार्यों की इतनी स्वतंत्रता सर्वथा उचित है। पर नवीनता की झोंक में गोपियों तक को वीर कहना अवश्य अनुचित है। यहाँ उसके अनौचित्य पर विचार करने का स्थान नहीं। आगे चल कर जहाँ उत्साह भाव पर विचार किया जायगा वहीं इसका विवेचन करना अधिक उपयुक्त होगा। अस्तु, यहाँ इतने ही से संतोष करना चाहिए कि आधुनिक काल की वीर रस की कविता में परिस्थिति के कारण एक प्रकार का आश्रय और बढ़ाना पड़ा जिसके कारण इस प्रकार की कविता होने लगी—

"चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ
मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ में देना तू फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक"

—माखनलाल चतुर्वेदी।

देशसेवा की इस भावना से स्त्रियाँ भी समरांगण के लिए सजाई जाने लगीं—

"अवला न रहो अब लाओ प्रवला का बल,
कामिनी न, दामिनी दिपाओ देह भर में।
ललना की लालसा हो लुप्त देश काल देख,
छलना की छाया छाई जावे घर घर में॥

भीरुता भगा के चट चंडिका की चाल चलो,
वीरता में बढ़ जाओ वीरों से समर में।
श्यामा कहलाना तजो कुलकी कला के लिए,
काली बनो काढ़ करवाल ले लो कर में॥"

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

कविगण मनाने लगे—

"सुनावें तो बिजली के वाक्य, शीश भूपालों के झुक जायँ।
सृष्टि कट मरने से बच जाय, शस्त्र चांडालों के रुक जायँ॥
पाप के पंडे पावें दंड, दंभ से दुनिया भर डर जाय।
भगीरथ मन की विनती मान, स्फूर्ति की गंगा कुछ कर जाय॥
प्रेम के पालक हों या न हों, प्रणों के पूरे पालक हों।
भारती ने यों रोकर कहा, 'देश में ऐसे बालक हों'॥"

—माखनलाल चतुर्वेदी।

हास के प्राचीन और नवीन आलंबन

हास के संबंध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यह दरबारी भाव है। इसमें स्थायित्व नहीं होता। आवृत्ति से भी आनंद में बाधा पड़ जाती है। इसके अतिरिक्त यह आमोदप्रिय हृदय के लिए है, चिंतनशील मस्तिष्क के लिए नहीं। संभवतः यही कारण है कि हास के वाङ्मय का विकास संस्कृत-साहित्य में भी अधिक नहीं हुआ। आगे चल कर जिस समय हिंदी का प्रादुर्भाव हुआ देश संकट में था। उस समय मुसलमानों से अपनी रक्षा की लगी थी। फिर कौन हँसता और कौन हँसाता। अस्तु, हास पर स्वतंत्र काव्य तो बने ही नहीं, हास-प्रधान कविता भी न हुई। हाँ, मस्तिष्क को विराम देने के लिए कभी कभी फबतियाँ छोड़ दी जाती थीं। इसके प्रधान आलंबन घमंडी ही रहे। रामचरित-मानस में नारद को अपने 'मार-विजय' के घमंड के कारण ही हास्यास्पद बनना पड़ा है। सूर-सागर में ज्ञानमद से चूर उद्धव को गोपियों ने छकाया है। इसी प्रकार स्फुट रचनाओं में लोभी और कंजूस भी हास के आलं-बन माने गए हैं। संस्कृत-साहित्य की भाँति कभी 'पेटस्तोत्र' भी लिखे गए हैं। इतना सब होते हुए भी कहना पड़ता है कि हास में एकरूपता ही रही। हिंदी-साहित्य में प्रधान आलंबन घमंडी या कंजूस ही रहे। उसमें अन्य आलंबन बहुत कम आए हैं। इधर देश दो प्रधान वर्गों में बँट गया—१–परिवर्तनवादी और २–सनातनवादी। इन दोनों के विचारों में बड़ा अंतर हुआ

अतः एक दूसरे को हास्यास्पद मानने लगे। हास्य रस पर इसका बहुत सुंदर प्रभाव पड़ा। उसके लिए अनेक आलंबन निकल आए। कोई 'जाकेट के पाकेट में वाच' देख कर हँसता है तो कोई मियाँ-बीवी का पार्क घूमना देख कर दंग होता है। इधर लंबा टीका लगाने और मोटा जनेऊ पहनने में हँसी रोकी नहीं रुकती। कोई सुधारकों की खिल्ली उड़ाता है तो कोई कौंसिल-प्रवेश पर तानाजनी करता है। जब यह दशा है तो सनातन की लीक पीटने वाले कैसे बचें। हास पर काव्य कैसे बने, यह प्रश्न भाव-विवेचन प्रकरण का है। यहाँ तो केवल इतना ही दिखलाना अभीष्ट है कि आधुनिक काल में हास के आलंबन बहुत हो गए।

शोक के प्राचीन और नवीन आलंबन

प्राचीन काल में शोक का विषय प्रिय की मृत्यु अथवा अनिष्ट की प्राप्ति समझा जाता था। करुणा के लिए प्रियजनों का कष्ट, निधन आदि आलंबन चले आते थे। पर आज जब देशविषयक रति का विस्तार हुआ—देश भी प्रियजन की भाँति प्यारा हो गया—तो कविगण उसके नष्ट अतीत गौरव के लिए भी आँसू बहाने लगे—

"हाय! गौरव-गर्वित चित्तौर,
हो गया दिव्य कांति से हीन।
हुए थे कैसे पुरुष प्रवीण,
बने थे जो जग के सिरमौर॥"

—रामकुमार वर्मा।

"सुख-दुख, शीतातप भुला कर प्राण की आराधना,
इस स्थान पर की थी अहो सर्वस्व ही की साधना।
हे सारथे! रथ रोक दो, स्मृति का समाधिस्थान है;
हम पैर क्या, शिर से चलें, तो भी न उचित विधान है।"

—जयशंकर प्रसाद।

जिस प्रकार आधुनिक कवियों को अनंत प्रकृति के मिलने से रति की व्यंजना के लिए अनेक आलंबन निकल आए उसी प्रकार करुणा के लिए देश के मिल जाने से अनेक आलंबन मिल गए। तीखी अथवा मीठी वेदना का अनुभव अतीत गौरव तक ही परिमित न रह गया वरन् देश की वर्तमान दैन्य दशा भी कविता का विषय बन गई। जैसा पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन काल में कवितोपयोगी प्राणी उच्च वर्ग के ही लोग माने जाते थे पर आजकल निम्न वर्ण के व्यक्तियों में भी कवियों के लिए पूरा आकर्षण है, वे भी उनकी करुणा या दया के पात्र हैं—

"मिट्टी का बेडौल एक छोटा सा घर है,
सभी ओर से जीर्ण, शीर्ण अतिशय जर्जर है।
गिर न पड़े यह कहीं यदपि मन में यह डर है,
चलना हमको किंतु आज इसके भीतर है।"

—सियारामशरण गुप्त।

'अनाथ' के इस प्यार के देखने के पश्चात् 'निराला' जी के भिक्षुक और विधवा को देखिए—

"वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँहफटी पुरानी झोली को फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।"

—भिक्षुक।

"उस करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर
अति छिन्न हुए भीगे अँचल में मन को—
दुख रूखे सूखे अधर—त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नजरों से दूर बचाकर,
रोती है स्फुट स्वर में;
दुख सुनता है आकाश धीर,—
निश्चल समीर,
सरिता की वे लहरें भी ठहर ठहर कर।"

—विधवा।

इतना ही नहीं शुभ और सुंदर वस्तुएँ भी आजकल के कवियों के रोने का कारण हो रही हैं। पर यहाँ केवल आलंबन पर बात हो रही है। अतः 'शोक' आधुनिक काल में कितना

व्यापक हो रहा है और उससे काव्य का स्वरूप कैसा बन रहा है इसका विवेचन आगे चल कर होगा।

विश्वमैत्री की भावना से परिपूर्ण युग में शत्रु मिलें कहाँ जिनके द्वारा प्राचीन कविता की भाँति क्रोध की व्यंजना कराई जाय। हाँ, आजकल लोग सामाजिक व्यवस्था से ऊब से रहे हैं। समाजवाद के प्रचारक कार्ल मार्क्स के बहुत से चेले आधुनिक समाज से बहुत असंतुष्ट हैं वे उसका तहस-नहस कर देना चाहते हैं—ऐसा युगांतर उपस्थित करना चाहते हैं जिसमें सब बातें नई ही नई हों। वे साधु और धर्मात्मा को समाज का सबसे बड़ा शत्रु समझते हैं। निट्शेने के इस वाक्य "O my bretheren; In whom lies the greatest peril to the whole future of mankind ? Is it not in the Good and Righteous ?" का पारायण करते हुए न जाने कितने नवयुवक मिलेंगे। फिर यदि कवि भी सामाजिक व्यवस्था पर दाँत पीसते हुए दिखाई दें तो क्या आश्चर्य—

क्रोध के प्राचीन और नवीन आलंबन

"माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाए,
आँखों का पानी सूखे,—वह शोणित की घूँटें हो जाए।
एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाए,
अंधे मूढ़-विचारों की वह—अचल-शिला विचलित हो जाए।

और दूसरी ओर कँपा देने वाला गर्जन उठ धाए,
अंतरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराए।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाए!"

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

कोई कोई कवि 'सत्यं शिवं सुंदरम्' के फेर में पड़ कर विश्व-विधान में ही उलट-फेर कर देना चाहते हैं, संसार का एक पक्ष निकाल कर उसे चलाना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं कि द्वंद्व का ही दूसरा नाम संसार है। शरीर की सारी कलुषता निकाल देने के लिए एक कवि कितना विह्वल हो रहा है—

"माँ! उर में वह आग लगा दे,
जिससे मलिन वासनाएँ जल
पल में छार-छार हो जाएँ;
जीवन के अरमान अपावन
जिसकी लपटों में सो जाएँ;
खो जाएँ विधियाँ वे जिनको
पाप मोल लेता इस जग में;
स्वार्थ-कलुष रह जाय न मेरे
नयन-हीन मन के नव मग में;
जो निज रोष-भरी ज्वाला से
भूतल का मल सकल भगा दे;
माँ! उर में वह आग लगा दे।"

—द्विज

अन्य रसों की कविता का प्रायः अभाव सा ही है। अद्भुत् पर थोड़ी बहुत कविता हो जाती है। उसके लिए पुराने समय में कवि लोग भगवान् का विराट् स्वरूप, देवताओं या वरप्राप्त वीरों के अद्भुत् रूप-व्यापार आदि द्वारा चकित किया करते थे। पहाड़, निर्जन वन इत्यादि वर्तमान काल में अधिकतर रति के विषय हो रहे हैं। उसी रतिभाव के द्वारा रहस्यमयी उद्भावनाएँ करके ही अद्भुत् की व्यंजना की जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभाव पक्ष के वस्तुत्व में कोई अंतर नहीं पड़ा है। हाँ, प्रवृत्ति और परिस्थिति के कारण आलंबन के रूपों में अंतर पड़ गया है, नए आलंबन आ गए हैं और प्राचीनों का सर्वथा त्याग भी नहीं हुआ है।

आलंबन विभाव की इतनी चर्चा हो चुकने के पश्चात् जब हम उद्दीपन विभाव पर आते हैं तो यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि उद्दीपनों में किसी प्रकार अंतर नहीं पड़ा है।

उद्दीपन विभाव

इसका कारण तो यह है आधुनिक काल में कवियों की दृष्टि रस के अवयवों की पूर्ति की ओर नहीं रहती। दूसरा कारण यह है कि आलंबनों के परिवर्तित हो जाने से भावों के कारण में तात्त्विक अंतर नहीं पड़ा करता। चाहे हम किसी की पगड़ी देख कर हँसें और चाहे कोट-पतलून। पर हँसने का कारण विचित्र विशेष ही होगा। चंद्र-ज्योत्स्ना देख कर जिस प्रकार नायिका के प्रति प्रेम उमड़ता है उसी प्रकार प्रकृति-प्रेमी को प्रकृति के प्रति उमड़ता है।

भाव पक्ष

अस्तु, कविता के विभाव पक्ष को छोड़ कर अब हम उसके उस पक्ष पर आते हैं जो सर्वप्रधान माना जाता है और जो काव्य की आत्मा कहा गया है। वह है कविता भाव पक्ष।

कविता में भावों और विचारों का स्थान

अंत:करण के प्रधान दो पक्ष हैं–१–मस्तिष्क और २–हृदय। पहले का कार्य है विचार और दूसरे का भावना। मनुष्य के जीवन में विचार का स्थान बहुत ऊँचा है किंतु भावना का पद भी उससे कम नहीं। विचार पर भावना की विजय का प्रमाण पग पग पर मिलता है किंतु भावना को विजित होते बहुत कम देखा जाता है। पहला नियम है, तो दूसरा अपवाद। इस अर्थ में यदि कहना चाहें तो यहाँ तक कह सकते हैं कि भावना अंगी है और विचार अंग। मनुष्य के मनुष्यत्व का जितना संबंध भावना से है उतना विचार से नहीं। विचार सदा परिवर्तित होते रहते हैं। एक ही

व्यक्ति के विचारों में आकाश-पाताल का अंतर पड़ जाता है, देश और काल के अनुसार अंतर पड़ना ही चाहिए। किंतु यह बात भावना के संबंध में नहीं कही जा सकती। बड़े से बड़े दार्शनिक और साधारण से साधारण व्यक्ति, छोटे से छोटा लड़का और बूढ़े से बूढ़ा व्यक्ति भी वेदना से दुखी और आनंद से सुखी होता है। भारत का आदर्शवादी भी अपने बच्चे को प्यार करता है और यूरोप का यथार्थवादी भी। फिर यदि भावना को नित्य और विचार को अनित्य कहें तो अनुचित न होगा। इस प्रकार भावना अपनी नित्यता के बल पर सत्य है और इसी लिए विश्वव्यापी है। पर विचार अनित्य होने के कारण असत्य है और इसी लिए एकदेशीय है। यही सत् तत्त्व जिसे भावना कहा गया है कविता का विषय है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि भावना सत्य और विश्वव्यापी है तो कविता में एकरूपता होनी चाहिए, पर ऐसा देखा नहीं जाता। इसका कारण क्या है? उत्तर में कहा जा सकता है कि साधन-भेद से कविता के स्वरूप में अंतर पड़ जाता है। ब्रह्म सत्य है, पर वही ब्रह्म देहरूप-उपाधि से परिच्छिन्न होने पर 'कूटस्थ', देहांतर्गत अविद्या में प्रतिबिंबित होकर 'जीव' और माया में प्रतिबिंबित होकर 'ईश्वर' हो जाता है। इसी प्रकार देश, काल और परिस्थिति के आवरण से कविता के स्वरूप में भी भेद पड़ जाता है।

यहाँ पर एक बात और ध्यान देने की है। कवि सदा सत्य की खोज में रहता है। कविता को उसी प्रयत्न का स्वरूप समझना

चाहिए। जब तक उसे सत्य का आभास मिलता रहता है, वह उसे अपनी कला से सजाता हुआ आनंद उठाता रहता है, पर जब सत्य का पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है तब उसके प्रयत्न का भी अंत हो जाता है, वहीं पर कविता की अबाध धारा भी रुक जाती है; कला का अंत हो जाता है। ठोस सत्य के मिल जाने पर मनुष्य उसका अंग हो जाता है, उससे आनंद नहीं उठा सकता। यहीं विचार का क्षेत्र है। यहीं से विज्ञान का श्रीगणेश होता है।

यह तो हुई भावना और विचार के क्षेत्रों की बात। अब थोड़ा सा इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए कि भावों की स्वतंत्र सत्ता है या उनके मूल में भी कोई बात रहती है जिसके कारण भिन्न भिन्न भावों का उदय होता है। इतना ही नहीं, इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि किस मनोविकार की तीव्रता मनुष्य की किस दशा विशेष में रहती है। कौन से भाव मनुष्य के साथ आदिम काल से चले आ रहे हैं और बराबर चले जायँगे। इससे इस बात का भी पता चल जायगा कि हमारे आचार्यों ने आठ (किसी किसी के मत से नौ) भावों ही को क्यों प्रधानता दी है? प्रथम प्रश्न पर स्थूल रूप से विचार करने से तो यही जान पड़ता है कि भावों की स्वतंत्र सत्ता है; वे ईश्वरप्रदत्त हैं। पर यदि सूक्ष्म रीति से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि इन भावों के मूल में भी एक बात है और वह है आत्मरक्षा एवं सुख की इच्छा। यह इच्छा आत्मप्रयत्न तक ही नहीं रहती; संतानों के द्वारा भी उसको (मनुष्य को)

अमर बनाने का सुख भी देना चाहती है। मनुष्य की ये दोनों इच्छाएँ—सुख चाहना और अमर हो जाना—भिन्न भिन्न भावों को जन्म देती हैं।

काव्यगत मूल भाव

मनुष्य जब पहले पहल आँख खोलता है, तब इस जगत् को देख कर अपने जीवन के लोभ के कारण आतंक से भर जाता है। यह आतंक यदि उसके हृदय में टिकाऊ हुआ तो भय का रूप धारण करता है। पर यदि साहचर्य से यह जाता रहा तो आश्चर्य नामक सुखात्मक भाव की उत्पत्ति होती है। यदि साहचर्य एवं परिचय बढ़ गया और यह निश्चय हो गया कि जिसे हम डरते हैं वह हानि न पहुँचाएगा, उलटा सुख ही देगा तब हमारा विस्मय जाता रहता है और हममें उसके प्रति रति का संचार होता है। शांति या सुख में बाधा देख क्रोध और करुणा का उदय होता है। ये दोनों सुख की रक्षा के लिए या अपने मार्ग की बाधा को दूर करने के लिए साहस देते हैं, जिससे हम प्रसन्न हो कर अपने ऊपर या दूसरे के ऊपर आई बाधा का निवारण करने के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। हृदय की इसी स्थिति को उत्साह कहते हैं। ध्यान देने की बात है कि उत्साह के मूल में भी भय रहता है। उस भय के हटाने में उत्साह सहायक होता है। इस उत्साह द्वारा भयावह वस्तु पर आक्रमण होता है और अपनी रक्षा होती है यही कारण

है कि ट्रैंडरसेल युद्ध का एकमात्र कारण भय की भावना को ही मानते हैं। यदि सुखमार्ग की वाधा तुच्छ हुई तो उससे घृणा हो जाती है, पर यदि सुख की वृद्धि हुई तो हास को स्फुटित होने का अच्छा अवसर मिल जाता है।

इस प्रकार ये आठ हमारे मूल भाव हैं—(१) भय, (२) आश्चर्य, (३) रति, (४) क्रोध, (५) करुणा, (६) उत्साह, (७) घृणा और (८) हास। इन्हीं के वल पर संसार की स्थिति है। ये हमारे आदिम साथी हैं। मनुष्य से यदि ये निकल जायँ तो उसके पशु होने में संदेह न रह जाय। इनका उचित विकास हो जाय तो मनुष्य देवता वन जाय। इन्हीं को सदा जगाते रहना कविता का काम है। इसलिए कविता में इन्हें सवसे अधिक महत्त्व दिया गया है।

अव हमें इस वात पर विचार कर लेना चाहिए कि काव्य
में इनका क्या क्रम रहता है और कौन कितना
रति की प्रधानता महत्त्वपूर्ण है। इससे इस वात का पता चल
जायगा कि नवीन कविता सभ्यता की किस
सीढ़ी पर है और उसका क्या मूल्य है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सवसे पहले वाह्य जगत् को देख कर मनुष्य के अंतर्जगत् में भय का संचार होता है। आदिम वन्य दशा में देवता भय द्वारा ही कल्पित थे। उनसे अनिष्ट की आशंका रहती थी इससे उनकी पूजा की जाती थी। आगे चल

कर भय के साथ साथ उपकार करनेवाली शक्तियों के प्रति आश्चर्यपूर्ण श्रद्धा का भाव आया—जैसा कि वैदिक काल में इंद्र वरुण, मरुत आदि देवताओं की उपासना में दोनों भाव पाए जाते हैं। आश्चर्य मनुष्य को वाह्यार्थ की ओर आकर्षित करता है। आकर्षण का फल यह होता है कि वाह्य जगत् का और अंतर्जगत् का समन्वय हो जाता है जिससे इस समय की कविता में भावों की गंभीरता आ जाती है। यही गंभीरता कविता को अमर बनाती है। वेदों के अमरत्व का एक यह भी रहस्य है। जब वस्तुएँ अधिक परिचित हो जाती हैं, तब हमारा आश्चर्य कम होता जाता है और दूसरे भावों के लिए जगह निकलती है। आत्मरक्षण की वृत्ति से प्रेरित भय के अतिरिक्त प्रेम और घृणा का विकास होता है जिनका स्थान न्यूनतर नहीं कहा जा सकता। प्रेम और घृणा का मूल्य एक ही है—एक प्रवृत्त्यात्मक है और दूसरी निवृत्त्यात्मक। इस भावद्वंद्व की व्यापकता आश्चर्य से भी अधिक बढ़ जाती है। आश्चर्य की दशा में जगत् की नाना रूपात्मकता की ओर दृष्टि डालने का उतना अवसर नहीं रहता, पर प्रेम में जगत् का विस्तार बढ़ जाता है। जगत् में सौंदर्य की बाढ़ सी आ जाती है। कवि उन सबको समेटना चाहता है, पर जीवन की परिमिति के कारण इस अपरमित कार्य में उसे सफलता नहीं मिलती। उसकी इच्छा कभी संतुष्ट नहीं होती। इच्छा की यही अमरता प्रेम को विश्वव्यापी और अमर बना देती है। उसका प्रेम इस दृश्य जगत् की सीमा पार कर जाता है और वह

पूर्ण सौंदर्य परमात्मा की ओर अग्रसर होता है। इसीसे भक्ति-काव्य का प्रादुर्भाव होता है। जब तक प्रेम भगवत्पक्ष में रहता है तब तक तो उसके मार्ग में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। इसलिए उसका स्फुरण अबाध रूप से होता है। परिणाम यह होता है कि इस काल की रचना बड़ी ही उत्कृष्ट हो जाती है पर वही प्रेम जब लोक की ओर उन्मुख होता है तब धर्म टाँग अड़ाने लगता है। पर कवि की पिपासा तभी शांत होती है जब उसे अपना लक्ष्य मिल जाता है। किंतु धर्मभावना उसे आगे नहीं बढ़ने देती वरन् उसका स्थान स्वयं लेने लगती है। किंतु हृदयस्थ पिपासा के शांत न होने के कारण प्रेम कभी दबता नहीं, वह अवसर पाकर फिर उमड़ पड़ता है। यही कारण है कि संसार चाहे जिस दशा में रहे पर प्रेम पर कविता होती है और अवश्य होती है। खुल्लमखुल्ला नहीं तो लुक छिप कर प्रेम अपना काम अवश्य करता है।

हिंदी-कविता में रति का स्थान

प्रमाण के लिए बहुत भटकने की आवश्यकता नहीं। हिंदी-कविता का प्रारंभ इसी रतिभाव से ही होता है। 'बीसलदेव रासो' तो स्पष्ट प्रेमकाव्य ही है। 'पृथ्वीराज रासो' वीर रस प्रधान है पर वहाँ भी वीरता के मूल में प्रेम ही है। आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—"किसी राज्य की कन्या के रूप का संवाद पाकर दल-बल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित कर

उस कन्या को हर कर लाना वीरों के गौरव और अभिमान का काम माना जाता था।.........जहाँ राजनीतिक कारणों से भी युद्ध होता था वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वीरोत्साह के मूल में प्रेम का वर्णन उस समय के कवियों का लक्ष्य रहा। यही बात अँगरेजी साहित्य के इतिहास में भी पाई जाती है। वैलेड काव्य (Ballad Poetry) हमारे यहाँ का रासो-साहित्य है। रासो-साहित्य की लौकिक सौंदर्य-पूजा बहुत दिनों तक चली। कबीर के सुधारवाद से कवियों की दृष्टि परोक्ष सत्ता की ओर गई। फलस्वरूप अलौकिक प्रेम की वृद्धि हुई। कुछ दिनों तक यह प्रेम अमूर्त (Abstract) के प्रति ही रहा। उसमें वासना की प्रधानता न आने पाई, यह पूर्णतया संयत रहा। पर इस प्रेम-व्यंजना से लोगों के हृदय की प्यास न बुझी। सूफी कवियों ने उस प्यास को बुझाने का प्रयत्न किया, उन्होंने परोक्ष सत्ता की भक्ति में भी वासना का मेल किया और प्रेम के ऐसे आलंबन की रचना की जिसे न तो मूर्त कह सकते हैं और न अमूर्त अर्थात् उसमें दोनों का मेल रहा। कुतवन, जायसी इत्यादि कवियों ने लौकिक प्रेम के वर्णन द्वारा अलौकिक प्रेम की व्यंजना की। आगे चलकर कृष्ण-भक्त कवियों ने आलंबन पर अलौकिकता का आरोप तो अवश्य किया पर उसका स्वरूप पूर्णतया लौकिक रखा। कृष्ण-काव्य को पढ़ते समय यदि हम थोड़ी देर के लिए इसको भूल जायँ कि सूर के कृष्ण लीला-

पुरुषोत्तम हैं तो सूर को उच्चकोटि का शृंगारी कवि मानने में बहुत कम आगा-पीछा करना पड़ेगा। हाँ, तुलसी की प्रेमपद्धति इस कोटि में नहीं जा सकती—वह पूर्ण संयत है। सारांश यह कि कृष्ण-भक्तिकाल से ही प्रेम में वासना की प्रधानता प्रारंभ हो गई जो आगे चलकर देव, बिहारी, मतिराम आदि शृंगारी कवियों में पराकाष्ठा को पहुँच गई। लोग भूल गए कि—

"और सबै हरषी हँसति, गावति भरी उछाह।
तुहीं बहू, बिलखी फिरति, क्यों देवर कैं ब्याह॥"

—बिहारी

कहने से देवर-भौजाई दोनों जातिच्युत कर दिए जायँगे। मतिराम भी प्रेम की झोंक में भूल गए कि राधा-कृष्ण का नाम ले लेने से उनके हृदय में बसे हुए लौकिक व्यक्ति राधा-कृष्ण न हो जायँगे। यदि यह बात न होती तो उन्हें—

"दुरिबे को गईं सिगरी सखियाँ मतिराम कहैं इतने छन में।
मुसुकाय कै राधिकै कंठ लगाय छिप्यो कहूँ जाय निकुंजन में॥"

कहने का साहस न होता और न—

"राति की केलि अघाने नहीं दिनहूँ में लला पुनि घात लगाई।"

कह कर कामुकता का प्रचार करते।

उच्छृंखलता की पराकाष्ठा के पश्चात् प्रतिवर्तन होना स्वाभाविक था। इस प्रतिवर्तन ने आदर्शवाद को जन्म दिया। स्वामी दयानंद ने पुराणों की घोर निंदा की। कवियों ने नियंत्रण और

संयम सीखा। जिससे प्रेम के नग्न चित्र की कौन कहे वे कविता को अलंकृत करने में भी संकोच करने लगे। द्विवेदी काल में यह आदर्शवाद अपनी चरम सीमा को पहुँच गया। 'भारतभारती' सी रचना उच्चकोटि का काव्य समझी जाने लगी। शृंगार का स्थान वीर ने लिया। वीरता के लिए 'वीर-पंचरत्न', 'जयद्रथ-वध' इत्यादि ही की रचना नहीं हुई, 'किसान' की भी रचना की गई। राम, कृष्ण, अभिमन्यु, प्रताप इत्यादि ही तक वीरता परिमित नहीं रही, साधारण 'किसान' भी 'विक्टोरिया क्रास' पहनने का अधिकारी बनाया गया। पुस्तक-वंदना—

"मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परैं, स्याम हरित दुति होय।"

के स्थान में इस प्रकार की रचना होने लगी—

"लोकशिक्षा के लिए अवतार था जिसने लिया,
निर्विकार निरीह होकर नर-सदृश कौतुक किया।
राम नाम ललाम जिसका सर्व-मंगल-धाम है,
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा-समेत प्रणाम है॥"

—रंग में भंग

"बात कैसे बता सकें तेरी
हैं मुँहों में पड़े हुए ताले
बावले बन गए, न बोल सके
बाल की खाल खींचनेवाले"

—बोलचाल

सारांश यह कि द्विवेदी काल में प्रेम की प्रधानता जाती रही और आदर्शवाद के कारण दूसरे भावों की प्रधानता हुई। पर प्रेम की पिपासा जो नित्य है वह कैसे दब सकती थी ? अतः प्रसाद काल में वह पुनः जगी। पर आदर्शवाद के पड़ोस में उसके विकसित स्वरूप की आशा न करनी चाहिए। इस काल में जो प्रेम की तीव्रता दिखाई जाती है वह अदृश्य जगत् की ओट से। उसमें वेदना की अधिकता रहती है। 'महादेवी' की आह, 'प्रसाद' के आँसू, 'पंत' के उच्छ्वास में प्रेम की ही व्यंजना है। पर वह शिष्टता के परिधान से ढकी हुई है।

उपर्युक्त विवेचन से शृंगार की रसराजता स्पष्ट हो जाती है। एक नहीं अनेक भवभूति—

"एको रसः करुण एव निमित्त-भेदा-
द्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्-
आवर्त - बुद्बुद - तरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् "

चिल्लाते रहें पर रहेगा "एको रसः 'प्रणय' एव निमित्तभेदात्" ही। शृंगार की रसराजता सदा से रही आई है और संभवतः सदा चलती चलेगी। विज्ञान जगत् को परिचित करा कर हम में से आश्चर्य को निकाल सकता है; सभ्यता विश्वमैत्री कराकर क्रोध, भय और उत्साह को निर्वासित कर सकती है; वेदांत उन्नति कर हास और जुगुप्सा का नाश कर सकता है; गीता के

वचन दया को दवा सकते हैं ; पर "सियाराममय सब जग" को देखते हुए कहना पड़ता है कि प्रेम पर भारतीय दंड-विधान की कोई धारा नहीं लग सकती।

भावों के सामान्य स्वरूपों पर विचार करने के अनंतर अब उसके शास्त्रीय पक्ष पर आना चाहिए और इस ओर जो परिवर्तन हुआ है उस पर भी विचार करना चाहिए।

काव्यगत आलंबन दो रूपों में मिला करते हैं—कभी तो वे किसी पात्र विशेष के भावों के आलंबन होकर पाठक अथवा श्रोता के भावों के आलंबन बनते हैं और कभी कवि के भावों के आलंबन होकर पाठक अथवा श्रोता के भावों के आलंबन होते हैं। इस प्रकार काव्यानंद में हमारे हृदय की दो स्थितियाँ होती हैं। कभी तो हमारे हृदय का मेल काव्यगत आश्रय के साथ होता है और कभी कवि के हृदय के साथ। काव्यगत आश्रय जब किसी आलंबन के प्रति अपने भावों की व्यंजना करता है तब इस आलंबन के प्रति हमारे भी भाव उसी प्रकार के हो जाते हैं जिस प्रकार के आश्रय के होते हैं अर्थात् आश्रय और पाठक अथवा श्रोता का तादात्म्य हो जाता है और इस प्रकार उस पात्र विशेष का आलंबन सामान्य आलंबन हो जाता है और पाठक अपने अस्तित्व को भूल सा जाता है। शक्ति-आहत लक्ष्मण के प्रति राम के जिस शोक की व्यंजना होती है उसमें हमारे हृदय का इतना योग रहता है कि वह अकेले राम का शोक नहीं रह जाता, हमारा भी हो जाता है; लक्ष्मण राम के भाई नहीं प्रतीत होते,

अपने अनुज हो जाते हैं। हममें और राम में कोई अंतर नहीं रह जाता। हृदय की इसी मुक्तावस्था को रस-दशा कहते हैं। इस दशा के अतिरिक्त हृदय की एक दशा और होती है। वह भी रस-दशा ही है पर निम्नकोटि की। जिस समय कैकेयी दशरथ से वरदान माँगते समय उन्हें फटकारती है उस समय भी हमें काव्यानंद मिलता है। पर वहाँ हृदय की स्थिति भिन्न रहती है। कैकेयी के हृदय के साथ हमारे हृदय का मेल नहीं होता, दशरथ हमारे क्रोध के आलंबन नहीं बनते, वरन् उलटे कैकेयी ही हमारे क्रोध अथवा घृणा का विषय हो जाती है। अब प्रश्न यह उठता है कि कैकेयी केवल हमारे ही क्रोध या घृणा का आलंबन है अथवा काव्य से संबंध रखनेवाले और किसी के? उत्तर में निधड़क कहा जा सकता है कि कैकेयी हमारे ही क्रोध अथवा घृणा की पात्री नहीं है वरन् कवि ने भी उसे इसी रूप में देखा है। इस प्रकार हमारे हृदय का मेल काव्यगत किसी आश्रय के साथ न होकर कवि के साथ होता है। हृदय की इस स्थिति को स्थूल रूप में हम भाव-दशा कह सकते हैं। यह दशा दुहरी होती है—आश्रय द्वारा जिस पूर्णता के साथ भाव की व्यंजना कराई जाती है कला की दृष्टि से हम उससे अनुरंजित होते हैं, दूसरी ओर भाव के क्षेत्र में हम आश्रय के प्रति एक प्रकार के क्रोध या घृणा का अनुभव करते हैं। इस प्रकार कवि अपने भावों की व्यंजना दो रूपों में करता है—कभी किसी पात्र की भाव-व्यंजना द्वारा और कभी उसके या उसके व्यापारों के अथवा अपने भावों

के वर्णन द्वारा। हम पहले विधान को रस-व्यंजना और दूसरे को भाव-व्यंजना कहेंगे।*

रस-व्यंजना का प्राचीन एवं नवीन विधान

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में संवेदन के स्वरूपों की व्यंजना दो रूपों में होती है—(१) रस-व्यंजना द्वारा और (२) भाव-व्यंजना द्वारा। यह पहले कहा जा चुका है कि भाव-व्यंजना भी रसात्मक होती है पर वैसी नहीं जैसी प्रबन्ध-काव्य की रस-व्यंजना। रस-व्यंजना में आचार्यों ने कई अवयव गिनाए हैं†। प्राचीन काल में पूर्ण रस के लिए इनकी पावंदी आवश्यक समझी जाती थी, किंतु आजकल की कविता में सब अवयवों का आना आवश्यक नहीं समझा जाता। इसका कारण है। आजकल की प्रवृत्ति वाह्यार्थनिरूपिणी कविता (Objective Poetry) की ओर विशेष नहीं है, व्यक्तिगत अनुभूति को प्रगट

---

*"जहाँ विभावादिकों से व्यक्त होने वाले स्थायी भावों के उद्रेकातिशय से उत्पन्न आस्वाद होता है वहाँ रस-व्यंजना होती है और जहाँ अपने अनुभावों से व्यक्त होने वाले व्यभिचारियों के उद्रेक से उत्पन्न आस्वाद होता है वहाँ भाव-व्यंजना होती है।"

—काव्य-कल्पद्रुम

† "विभावानुभावव्यभिचारसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों द्वारा रस व्यक्त होता है।"

करने की ओर है। इसीलिए प्रबंध-काव्यों की रचना का ह्रास, जो रीति काल से प्रारंभ हुआ था, आज चरम उत्कर्ष को पहुँच रहा है। प्रबंध-काव्य में रस के अवयवों के लिए जैसा क्षेत्र मिला करता है वैसा प्रगीत-काव्य (Lyrical Poetry) में नहीं मिलता।* फिर जब प्रबंध-काव्यों की रचना ही नहीं होती, यदि होती भी है तो उनमें प्रगीत-काव्यत्व ही अधिक रहता है, तो दूर तक चलती हुई रसधारा कहाँ मिले? † हाँ, रस की पिचकारियाँ छूटती

---

* "मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। उसमें रस के ऐसे स्निग्ध छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक मर्मस्पर्शी खंडदृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मंत्रमुग्ध सा हो जाता है।"

—हिंदी-साहित्य का इतिहास

† बाबू मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' आधुनिक काल का अच्छा प्रबंध-काव्य माना जाता है किंतु उसमें प्रबंध का उतना आनंद नहीं मिलता, मुक्तक-काव्य की ही विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं।

रहती हैं जो थोड़ी देर के लिए श्रोता अथवा पाठक को सिक्त कर दिया करती हैं। आधुनिक काल की कविता रस-व्यंजना की दृष्टि से प्राचीन काल की कविता से स्वरूप में कुछ भिन्न दिखाई पड़ती है। भिन्नता इस बात में लक्षित होती है कि आजकल कवि प्रायः स्वयं आश्रय के रूप में रहा करते हैं, इससे अनुभाव-रूप बाह्य चेष्टाओं के विधान की आवश्यकता बहुत कम होती है। हाँ, अपने आँसू बहाने, कंपित होने आदि का उल्लेख कहीं कहीं पाया जाता है। नाना वस्तुओं के द्वारा उद्दीपन के कथन की परिपाटी भी बहुत न्यून हो गई है। इसलिए आजकल प्रबंध-काव्यों के ढंग की रसधारा बहुत कम दिखाई देती है। किसी एक भाव की क्षणिक व्यंजना मिलती है, पर कोई रस दूर तक चलता दिखाई नहीं देता। क्योंकि उसके विभिन्न अवयवों पर कवि की दृष्टि नहीं रहती। उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट कर देना उचित होगा। 'आँसू' एक उत्कृष्ट विरह-काव्य है, पर संबद्ध भावना के अभाव में वह नागमती, गोपियों इत्यादि के विरह-वर्णन का सा स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ता। 'आँसू' वियोग-दशा की नाना अनुभूतियों का संग्रह सा लगता है। इसमें संदेह नहीं कि कई स्थलों पर दो दो, तीन तीन पदों तक एक ही भावना चली गई है, पर रसमग्नता के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं होता। किंतु जायसी के वियोग-वर्णन को पढ़कर पाठक रसधारा विशेष में बहने लगता है; अनूठी व्यंजना से चमत्कृत ही भर नहीं होता।

मुक्तकों में भी पुरानी परिपाटी के कवि रस के अवयव लाया करते थे। जो एक पद्य में सब अवयव ला दे उसकी निपुणता की प्रशंसा भी होती थी। पर जैसा पहले कहा जा चुका है आधुनिक कवियों का ध्यान अवयवों की पूर्ति की ओर नहीं रहता। कहीं यों ही सब अवयव आ गए तो आ गए, जैसे—

"अलियों से आँख बचा कर
जब कंज संकुचित होते
धुँधली संध्या प्रत्याशा
हम एक एक को रोते"

—प्रसाद

उक्त उदाहरण में धुँधली संध्या उद्दीपन है, रोना अनुभाव है, अभिलाषा और विषाद संचारी भाव हैं। इस प्रकार यह शृंगार रस का शास्त्रीय दृष्टि से अच्छा उदाहरण है। पर इस प्रकार की रचना वर्तमान काल में बहुत ही कम मिलती है। अधिकांश कविताएँ इस प्रकार की होती हैं—

"चाह नहीं है अब आँखों की
आँखों में है ही क्या सार
आँखें मूँद तुम्हें पाता हूँ
तम में प्रियतम प्राणाधार"

—हरिकृष्ण प्रेमी

किंतु प्राचीन कविता में—

"बिहँसि बुलाय बिलोकि उत, प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति पूत को, पिय-चूम्यो मुख चूमि॥"
—बिहारी

ऐसे पूर्ण रस के उदाहरणों का ही आधिक्य है।

यहाँ पर इस बात का भी विचार कर लेना चाहिए कि काव्यानंद और प्रकृति से प्राप्त आनंद में भिन्नता है अथवा नहीं। रस-संप्रदाय के अनुयायी काव्यानंद को ब्रह्मानंद-सहोदर कहते हैं और इस प्रकार काव्यानंद को प्राकृतिक आनंद से अलग कर देते हैं। पर विचार करने पर इन दोनों में कोई तात्त्विक अंतर नहीं दिखाई देता? दोनों की अनुभूति एक सी होती है। यदि ऐसा न होता तो करुण रस की कविता सुन कर लोग करुणा में इतने कभी न डूबते कि नाटक या सिनेमा के दृश्य देख कर रो पड़ें। यहाँ तक देखा गया है कि हत्याकांड का दृश्य देख कर दर्शक संज्ञा-शून्य हो जाते हैं और वीर हृदय वाले अमर्ष से भर कर दाँत पीसने लगते हैं। पर आजकल के अधिकांश कवि संभवतः ऐसा नहीं मानते। वे अपनी काव्यानुभूति को सामान्य अनुभूति का रूप देने में संकोच सा करते हैं। सर्वसामान्य के लिए उनकी रचनाओं के प्रायः दुर्बोध होने का एक कारण यह भी है। इस पर अधिक विचार आगे चल कर कलाप्रकरण में होगा। यहाँ पर केवल इतना ही कहना है कि काव्यानुभूति और प्रकृति-प्राप्त अनुभूति में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है।

भाव-व्यंजना और रस-व्यंजना के सामान्य परिचय के अनंतर अब उन आठों भावों पर अलग अलग विचार करना चाहिए जिनकी चर्चा पहले हो चुकी है।

सबसे पहले रतिभाव को लीजिए। प्राचीन आचार्यों ने चार प्रकार की रति को काव्योचित माना था—कांताविषयक, पुत्रविषयक, देवविषयक और राजाविषयक।

प्राचीन और नवीन कविता में रतिभाव

इनमें से प्राचीन कवियों ने सबसे अधिक कांताविषयक रति को अपनाया। पर भौतिकता की ओर अधिक ध्यान देने के कारण इसमें वह सौंदर्य न आ सका जो देवविषयक रति में आया। हिंदी-साहित्य में भक्त कवियों की वाणी में जैसा अलौकिक रस है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसका प्रधान कारण तो यह है कि इन महाकवियों की कविता में इनके हृदय का सच्चा उद्गार है। उसमें कृत्रिमता का चिह्न तक नहीं है। इसका कारण था। अंतःसौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण प्रत्येक कला का लक्ष्य है। इस लक्ष्य को भक्त कवियों ने परम सौंदर्य के साक्षात्कार से बहुत अच्छे प्रकार से पहचान लिया था। उनकी रचना में विषय-वासना के लिए स्थान नहीं था। इसके अतिरिक्त उनकी कविता में चारों प्रकार की रति का समावेश हो गया है। तुलसी के राम ईश्वर रूप में ही नहीं हैं बालक, युवक और राजा के रूप में भी उनका पूर्ण विकास हुआ है। इसी प्रकार अन्य सगुणईश्वरोपासक भक्त

कवियों के भी उपास्य आए हैं। और तो और कबीर इत्यादि निर्गुणवादियों में भी कांताविषयक रति की अच्छी व्यंजना मिलती है। इस प्रकार इन भक्त कवियों ने रति का कोई कोना अछूता नहीं रखा है। 'स्वांतःसुखाय' कविता करने के कारण उनकी रचनाओं से उनका हृदय झाँकता रहता है। भक्त कवियों के अमर होने के ये ही कारण हैं।

वर्तमान काल में रति के आलंबनों पर विचार करते समय यह दिखाया जा चुका है कि नवीन कविता में आलंबन प्रायः अज्ञात रहा करता है। आलंबन का स्वरूप स्फुट न होने के कारण प्रेम के आदर्श का चित्रण अवश्य होता है, पर उससे पूर्ण रस-परिपाक होने में बाधा पड़ा करती है। अज्ञात के प्रति प्रेम होने का अर्थ ही यह होता है कि प्रेमी की गति एकांगी है—

"पथ देख बिता दी रैन, मैं प्रिय पहिचानी नहीं !
तम ने धोया नभ-पंथ सुवासित हिमजल से ;
सूने आँगन में दीप जला दिए झिलमिल से ;
आ प्रात बुझा गया कौन अपरिचित जानी नहीं ;
मैं प्रिय पहिचानी नहीं !
धर कनक-थाल में मेघ सुवासित पाटल सा ,
कर बालारुण का कलश विहंग-रव मंगल सा ,
आया प्रिय पथ से प्रात सुनाई कहानी नहीं ,
मैं प्रिय पहिचानी नहीं !

नव इंद्रधनुष-सा चीर महावर अंजन ले,
अलि गुंजित मीलित पंकज, नूपुर रुनझुन ले;
फिर आई मनाने साँझ मैं वेसुध मानी नहीं,
मैं प्रिय पहिचानी नहीं!

इन श्वासों से इतिहास आँकते युग बीते
रोमों में भर भर पुलक लौटते पल रीते;
यह ढुलक रही है याद नयन से पानी नहीं
मैं प्रिय पहिचानी नहीं!

अलि कुहरा-सा नभ विश्व मिटे बुदबुद जल सा
यह दुख का राज्य अनंत रहेगा निश्चल सा;
हूँ प्रिय की अमर सुहागिनि पथ की निशानी नहीं;
मैं प्रिय पहिचानी नहीं!"

— महादेवी वर्मा

आधुनिक समीक्षकों को वर्माजी के इस गान में अनिर्वचनीय रस भले ही मिले किंतु हमारे यहाँ के आचार्यों के अनुसार इस प्रकार की प्रेम-व्यंजना रसाभास* सी लगेगी और भाव-व्यंजना के अंतर्गत जायगी। यदि नवीन कवियों में सुमित्रानंदन पंत ऐसे दो एक कवियों को न लें तो बेधड़क कह सकते हैं कि असीम और ससीम के झुलावे मिलाने वाले और विरह-वेदना से जलने और

---

* "उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्।"

क्लांत रहने वाले कवियों की कविता में रस में लीन करने वाली व्यंजना प्रायः होती ही नहीं। शृंगार रस की रसराजता आचार्यों ने इसलिए मानी थी कि उसमें सुखात्मक (संयोग शृंगार) और दुःखात्मक (वियोग शृंगार) दोनों पक्ष होते हैं इसीसे उसका शासन, प्रायः सब संचारियों पर रहता है। पर 'कौन' को लेकर चलने वाले कवियों में सुखात्मक अनुभूति की गुंजायश बहुत कम रह जाती है। यही कारण है कि आधुनिक काव्य में आँसुओं की ऐसी बाढ़ आ गई है कि व्रज को डुबाने वाले विरहिणी गोपियों के आँसू आज के कवियों के आँसुओं के सामने जल-सीकर से दिखाई पड़ते हैं। किंतु मनुष्य सुख के बिना बहुत दिनों तक जी नहीं सकता। आजकल के अधिकांश कवि वेदना में ही सुख ढूँढ़ते हैं। शायद इस सुख ढूँढ़ने को ही समोलक अंतःसौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण कहते हों—

"अयि अमर शांति की जननि जलन !
अक्षय तेरा शृंगार रहे,
जीवन - धन - स्मृति - सा अमिट
निरंतर तेरा - मेरा प्यार रहे।

धधकें लपटें अंतर - तर में,
तेरे चरणों पर शीश झुके।
तूफ़ान उठें अंगारों के
उर प्रलय सृष्टि का स्रोत रुके

हाँ खूब जला दे ; रह न जाय
अस्तित्व ; और जब वे आवें—
चरणों पर दौड़ लिपट जानेवाली
मेरी विभूति पावें"

—अनुभूति

उपर्युक्त कथन में किसी को अंत:सौंदर्य का दर्शन हो तो भले हो किंतु "लागिउँ जरै जरै जस भारू। पुनि पुनि भूँजेसि तजिउँ न बारू" में वेदना की जैसी स्वाभाविकता और सचाई है उसके सामने द्विजजी का कथन कृत्रिम दिखाई पड़ता है, चाहे उनके हृदय में प्रेम का जितना भी अधिक रस भरा हो।

आलंबन अनिश्चित होने के कारण विभावपक्ष-जगत् के गुप्त और प्रकट नाना स्वरूपों और व्यापारों के साक्षात्कार की ओर कवियों का ध्यान जाता ही नहीं, वे भावों की विस्तृत विवृति देने में ही लगे रहते हैं। फल यह होता है कि पाठक अनुभूति की नाना प्रणालियाँ ही सामने पाता है, उस आलंबन का स्वरूप सामने नहीं पाता जिसके प्रति वह अनुभूति होती है। अतः उस अनुभूति में योग देने की कोई सामग्री पाठक अपने सामने नहीं पाता। आलंबन का कोई स्वरूप सामने रखे बिना हम इस बात की आशा दूसरे से कैसे कर सकते हैं कि वह उसके प्रति उसी भाव का अनुभव करे जिस भाव का हम कर रहे हैं। पुराने कवियों में भावों का ब्यौरा पेश करना रहा ही न हो यह बात

नहीं है। इस प्रकार की कविता पुराने समय में भी थोड़ी बहुत होती चली आई है। घनानंद का 'सुजानसागर' उदाहरण के रूप में रखा जा सकता है। पर घनानंदजी ने आलंबन की प्रतिष्ठा का ऐसा बहिष्कार नहीं किया जैसा आधुनिक कवि कर रहे हैं। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी—

"भोर तें साँझ लौं कानन ओर निहारति बावरी नेकु न हारति।
साँझ तें भोर लौं तारनि ताकिबो, तारन सौं इक तार न टारति॥
जौ कहूँ भावतो दीठि परै, घनआनँद आँसुनि औसर गारति।
मोहन सोहन जोहन की, लगियै रहै आँखिन के मन आरति॥"

—घनानंद

यहाँ पर नायिका के व्यापार-वर्णन द्वारा उसके प्रिय-मिलन की उत्कंठा की व्यंजना है। इस प्रकार की व्यंजना प्रसाद के 'आँसू' में, जो 'सुजानसागर' की भाँति ही विरह-काव्य है, बहुत कम मिलेगी। यही कारण है कि 'आँसू' की दुःख-गाथा पढ़ कर प्रसादजी की अभिव्यंजना पर श्रद्धा होती है, और 'सुजानसागर' की वियोग-व्यथा से घनानंद के हृदय से सहानुभूति। 'आँसू' को पढ़ते समय मुँह से निकलता है—'बहुत सुंदर कहा है' और 'सुजानसागर' को पढ़ते समय कहना पड़ता है कि 'बहुत ठीक कहा है'। पहला कलानिपुण पद से होता हुआ हृदय पर प्रभाव डालता है और दूसरा सीधे हृदय को स्पर्श करता है। एक एक उदाहरण और लीजिए—

"मकरंद-मेघ-माला सी
वह स्मृति मदमाती आती
इस हृदय-विपिन की कलिका
जिसके रस से मुसक्याती।"

—प्रसाद

"वहै मुसकानि वहै मृदु वतरानि वहै
लड़कानी आनि आनि उर में अरति है।
वहै गति लैनि औ वजावनि ललित वेनु
वहै हँसि दैनि हियरा तें न टरति है॥
वहै चतुराई सों चिताई चाहिवे की छवि
वहै छैलताई न छिनक विसरति है।
आनँद-निधान प्रान-प्रीतम सुजानजू की
सुधि सब भाँतिन सौं वेसुधि करति है॥"

—घनानंद

आलंवन के अनिश्चय के कारण प्रसादजी की मेघमाला सी उठती हुई स्मृति की झलक मात्र मिलती है पर घनानंदजी की स्मृति का स्वरूप खड़ा हो जाता है क्योंकि आलंवन का स्वरूप सामने होने के कारण घनानंद की अनुभूति में योग देने की सामग्री हमारे सामने है।

आधुनिक कवियों का जिस प्रकार विषय अनिश्चित होता है

उसी प्रकार उनके भाव भी स्पष्ट नहीं हो पाते। यह हो कैसे, जब कवि रचना की पूर्णता की ओर ध्यान ही नहीं देते। रहस्यभावना (Mysticism) के फेर में पड़कर बुद्धिवाद (Rationalism) को स्थान ही नहीं दिया जाता। आजकल अनेक ऐसी कविताएँ मिलेंगी जो केवल दो चार चमकते हुए वाक्यों के कारण जीवित हैं। प्राचीन कवि प्रभावपूर्णता (Tolat impression) की ओर इतना ध्यान रखते थे कि वे कवित्त का चौथा चरण पहले रच लिया करते थे तब शेष तीन चरणों की रचना करते थे। इसी चौथे चरण में कवि के भाव का पूर्ण स्वरूप मिलता था। तीन चरण कविता के अंग होते थे, चौथे चरण से कविता को अपना पूर्ण स्वरूप मिल जाता था। पर आधुनिक कविता में इस अन्विति का सर्वथा अभाव सा रहता है। मुक्तक कविता में यह कुछ अंश तक क्षम्य हो सकता है, पर 'साकेत' ऐसे प्रबंध-काव्य में यह प्रवृत्ति बहुत ही खलती है। उसका नवाँ सर्ग संचारियों का समुच्चय सा प्रतीत होता है।

आगे कहा जा चुका है कि आधुनिक कवियों की प्रवृत्ति अन्तःसौंदर्य के प्रत्यक्षीकरण की ओर अधिक और बाह्य सौंदर्य की ओर बहुत कम रहती है। प्राचीन काल के कवि रूप-सौंदर्य, कर्मसौंदर्य और भावसौंदर्य सबको लेकर चलते थे क्योंकि उन्हें प्रभावपूर्णता (Total impression) अभीष्ट होती थी। पर आजकल ऐसा बहुत कम दिखाई देता है। यही कारण है कि जिस दशा में सूर की वियोगिनी कहती है—

"मधुवन तुम कत रहत हरे
विरह वियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े कत न जरे"

—सूरदास

इसी दशा में ऊर्मिला अपनी वाटिका से कहती है—

रह चिरदिन तू हरी भरी,
बढ़ सुख से तू बढ़ सृष्टि-सुंदरी !
सुध प्रियतम की मिले मुझे,
फल जन-जीवन-दान का तुझे !"

—मैथिलीशरण गुप्त

सारांश यह कि प्राचीन कवि दुःख की दशा में दुःख का ही अनुभव करते थे, पर आजकल के कवि दुःख में भी और उत्कृष्ट भावों के लिए स्थान रखते हैं। केवल दुःख में मग्न होने के कारण ही पुराने कवि प्रेम में जलाने की शक्ति ही अधिक देखते थे—

"मुहमद चिनगी प्रेम कै, सुनि महि गगन डेराइ।
धनि विरही औ धनि हिया, जहँ अस अगिन समाइ।"

—जायसी

इसी प्रकार ब्रजभाषा-कवि की एक नायिका कहती है—

"जो मैं यह कहुँ जानती, प्रीति किए दुख होइ।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीति करै जनि कोइ॥"

पर आज वियोग का स्वरूप इतना लयकारी नहीं जान पड़ता। आजकल कलावादी कवि केवल कोमल और मधुर को पकड़ते हैं। वे प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में ही काव्य का उत्कर्ष मानते हैं और प्रायः एकांतिक प्रेम को अपनाते हैं। प्रेम को आजकल संसार के झंझटों से शांतिप्रदान करने वाली वस्तु ही अधिकतर समझते हैं, क्योंकि यही प्रेम-साधना उस आनंद-लोक में पहुँचाएगी—

> "घने प्रेम-तरु-तले
>
> बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले"
>
> —प्रसाद

प्रसाद और पंत ऐसे प्रेमोपासक और सौंदर्य-दर्शक में प्रेम का यह रूप उतना नहीं खलता क्योंकि उन्होंने प्रेम की और दशाएँ भी ली हैं—

> "पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल भूल कर चलना है।
>
> "घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।"
>
> —प्रेमपथिक

> "व्यर्थ है हाय! प्रणय
>
> नहीं दुरता है जहाँ दुराव;
>
> कल्पतरु है वह भय,
>
> प्याला है जो सदा बचाव;"
>
> —पंत

पर 'परा विद्या की अपार्थिवता, कबीर का रहस्यवाद, लौकिक प्रेम की तीव्रता' इन सबको लेकर कविता करने वालों को भी जब प्रेम 'तलवार की धार पै धावनो' कहीं नहीं दिखाई देता तब आश्चर्य अवश्य होता है। आलंबन का जैसा अस्पष्ट या अव्यक्त स्वरूप आधुनिक कवि रखा करते हैं उसके अनुसार संयोग पक्ष में कविता करने की बहुत कम गुंजायश रह जाती है; स्मृति के रूप में संयोग पक्ष का आभास भर मिला करता है। यह संयोग पक्ष प्राचीन कविता के संयोग पक्ष की भाँति नहीं रहता। पुराने कवि वियोग में ही हृदय की अंतर्दशाओं का निरूपण अधिकतर किया करते थे, पर संयोग पक्ष में भौतिकता पर ही अधिक ध्यान रखते थे। आधुनिक कवि जिस प्रकार वियोग की दशा में हृदय की स्थिति दिखलाने की ओर अधिक ध्यान देते हैं उसी प्रकार मिलन में भी। संयोग का वर्णन जायसी इस प्रकार करते हैं—

"प्रथम बसंत नवल ऋतु आई।
सुऋतु चैत बैसाख सुहाई॥
× × ×
सौर सुपेती फूल न डासी।
धनि औ कंत मिले सुखवासी॥
पिउ सँजोग धनि जोवन बारी।
भौंर पुहुप सँग करहिं धमारी॥
× × ×

ऋतु ग्रीषम कै तपति न तहाँ।
जेठ असाढ़ कंत घर जहाँ॥

× × ×

ऋतु पावस बरसै, पिउ पावा।
सावन भादौं अधिक सुहावा॥
पद्मावति चाहति ऋतु पाई।
गगन सोहावन भूमि सोहाई॥

× × ×

आइ सरद ऋतु अधिक पियारी।
आस्विन कातिक ऋतु उजियारी॥
पद्मावति भइ पूनिउँ कला।
चौदसि चाँद उई सिंघला॥

× × ×

ऋतु हेमंत सँग पिएउ पियाला।
अगहन पूस सीत सुखकाला॥
धनि औ पिउ मँह सीउ सोहागा।
दुहुन्ह अंग एकै मिलि लागा॥

× × ×

आइ सिसिर ऋतु तहाँ न सीऊ।
जहाँ माघ फागुन घर पीऊ॥
सौर सुपेती मंदिर राती।
दगल चीर पहिरहिं बहु भाँती॥"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि कवि की दृष्टि प्रत्येक ऋतु के अनुकूल भोग-विलास की ओर थी, रतनसेन का हृदय देखने की ओर नहीं। पर प्रसादजी हृदय देखते हैं, प्रेमी और प्रियतम के मिलने से प्रेमी की भावना कैसी रहती है उसे बतलाते हैं—

"तुम सत्य रहे चिर सुंदर
मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन-संगी
कल्याण-कलित इस मग के

× × ×

मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए
यह अलस जीवन सफल अब हो गया।
कौन कहता है जगत है दुःखमय
यह सरस संसार सुख का सिंधु है"

पर इससे यह न समझना चाहिए कि आधुनिक कविता में प्राचीन रतिकथा का उद्दाम स्वर है ही नहीं। एक दृश्य देखिए—

"निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुंदर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली
मसल दिए गोरे कपोल गोल
चौंक पड़ी युवती—

चकित चितवन को चारों ओर फेर
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी,—खिली
खेल रंग प्यारे संग।"

—निराला

भला यह बिहारी के 'यों दृग ललियत निर्दयी दई कुसुम से गात' से कैसे कम है। संभवतः इसी प्रकार की रचना देखकर पं० जवाहरलाल ने कहा था कि आधुनिक काव्य दरबारी है। यद्यपि आधुनिक कवि राजा-महाराजाओं के मनस्तोष के लिए रचना नहीं करते, तथापि इसमें संदेह नहीं कि मध्यकालीन और आधुनिक काव्य की बाह्य असमानताओं के भीतर भी एक ही वासना की प्रेरणा है।

यहाँ एक और बात ध्यान में रखने योग्य है। पुरानी कविता में ईश्वरविषयक रति दो रूपों में आई है—सुभीते के लिए एक को विशुद्ध रतिभाव और दूसरे को दुःखभाव-मिश्रित रतिभाव या भक्ति कह सकते हैं। ईश्वरविषयक विशुद्ध रति में वे कविताएँ आवेंगी जिनमें ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप में की गई है—जैसे गोपियों का या मीरा आदि का रतिभाव। दूसरी श्रेणी में वे कविताएँ आती हैं जो विनय के रूप में पाई जाती हैं—जैसे सूर और तुलसी इत्यादि के विनय के पद। पुराने कवियों में इन दोनों प्रकार की कविताएँ मिल सकती हैं। पर आधुनिक कविता में विनयगत दुःखभाव का प्रायः अभाव है। संभवतः

इसका कारण है कविता का दोमुखी होना। आलंबनभेद से रति के जो कई स्वरूप प्राचीनों ने निर्दिष्ट किए थे उनको वर्तमान काव्य में जगह नहीं मिलती है। यदि रति का और कोई दूसरा रूप दिखाई पड़ता है तो देशविपयक रति का। देश पर जो कविताएँ हुई हैं वे उत्साहभाव लेकर भी और रतिभाव लेकर भी। देशसेवा के लिए कष्ट सहना, अपने को निछावर करना देशप्रेम के कारण होता है। कष्ट सहने का उत्साह संचारीरूप में रहता है। देशविपयक कविताओं में उत्साह की प्रधानता वहाँ पर स्पष्ट दिखाई देती है जहाँ कवि की वृत्ति देशपीड़क की ओर उन्मुख होती है और कवि इस रूप में कहता है कि चाहे विरोधी हमें चीर डालें, चूर कर डालें हम पथ से न हटेंगे। अर्थात् जहाँ दृष्टि मुख्यतः देशसेवा के मार्ग में बाधा डालने वाले, देशपीड़क आदि की ओर होती है वहाँ उत्साह होता है और जहाँ कवि की दृष्टि देश के सुंदर स्वरूप, उसके द्वारा पोपित होने, उसके लिए सब प्रकार के दुःख-कष्ट सहने की ओर होती है वहाँ वहाँ रतिभाव होता है। अस्तु, देशविपयक रति में वे ही कविताएँ आएँगी जिनमें कवि का हृदय देशसौंदर्य पर मुग्ध और उस पर सब कुछ उत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत दिखाई देगा—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा
सरस तामरस-गर्भ-विभा पर—नाच रही तरुशिखा मनोहर
छिटका जीवन हरियाली पर, मंगल कुंकुम सारा

लघु सुरधनु से पंख पसारे—शीतल मलय समीर सहारे
उड़ते खग जिस ओर मुँह किए—समझ नीड़ निज प्यारा
बरसाती आँखों के बादल—बनते जहाँ भरे करुणाजल
लहरें टकराती अनंत की—पाकर जहाँ किनारा
हेमकुंभ ले उषा सवेरे—भरती ढुलकाती सुख मेरे
मदिर ऊँघते जब रहते—जगकर रजनी भर तारा

—प्रसाद

रति के संबंध में एक बात और कह कर यह प्रकरण समाप्त किया जाता है। पुराने कवि काव्यानुभूति का साधन इस दृश्य जगत् को मानते थे। वे इसके प्रभाव से ही प्रभावित होते थे। कल्पना के लिए इंद्रिय-ज्ञान की उपेक्षा नहीं करते थे। कल्पना का आधार दृश्य जगत् ही है, इसे स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होती थी। संभवतः यही कारण है कि वे अपने आलंबनों का नखशिख-वर्णन करना अपना कर्तव्य समझते थे। इतना ही नहीं, वे उन विषयों को भी नहीं छोड़ सकते थे जिनका उनके नायक-नायिकाओं के सुख-दुःख में विशेष हाथ रहता था। अतएव वे विस्तारपूर्वक षट् ऋतुओं का वर्णन करते थे। इस वर्णन में प्रकृतिवर्णन भी आ जाया करता था। उनके प्रकृति-वर्णन में नदी, पहाड़, झरने इत्यादि (ईश्वरकृत) ही नहीं रहते थे वे वस्तुएं भी आती थीं जो मनुष्यकृत हैं। वे तड़ाग, वापी, नौका आदि मानवीय कृतियों को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखते थे। पर आज का कवि अंतःसौंदर्य के प्रत्यक्षीकरण के आगे

बाह्य सौंदर्य को स्थान ही नहीं देना चाहता। अंगों के अभाव के कारण 'सुरीले ढीले अधर', 'कान से मिले अजान नयन', 'पुरइन से कान', 'बिखरी अलकें', 'मोती के दाने' इत्यादि बनावटी, निष्प्राण और अशक्य दिखाई देते हैं। पंत की प्रेयसी बाला का अंत:सौंदर्य बाह्य सौंदर्य के बिना उतना प्रभावोत्पादक नहीं रह गया है—

"सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूपन,
कान से मिले अजान नयन,
सहज था सजा सजीला-तन!"

—पंत

'जूही की कली', 'पल्लव-बाल' इत्यादि अपने सहवर्गियों के साथ न होने के कारण वाटिका का आनंद नहीं देते। हाँ, नमक के पानी में पड़े हुए गुलदस्ते का शौक अवश्य पूरा कर देते हैं। सारांश यह कि आजकल के कवि अंत:सौंदर्य के प्रत्यक्षीकरण के आगे विभाव पक्ष की पूर्णता की ओर दृष्टि न रख कर कहीं कहीं उसके अंगों के सौंदर्य का आभास कुछ उपमानों द्वारा दे दिया करते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विभाव पक्ष की सर्वथा अवहेलना नहीं की जा सकती—

"मुख-कमल-समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के
जल-बिंदु सदृश ठहरे कब
उन कानों में दुख किनके?"

—प्रसाद

"मुकुल बनती होगी मुसकान
प्रिये मेरे प्राणों की प्राण
मृदूर्मिल सरसी ये सुकुमार
अधोमुख अरुण सरोज समान"

—पंत

इसमें संदेह नहीं कि पुरानी कविता का प्रकृतिवर्णन और नखशिख-वर्णन अधिकतर परंपराभुक्त था। कविगण अपने प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत-विधान के लिए अपनी आँखों को कष्ट नहीं देते थे; जो कुछ पूर्ववर्ती कवियों के वर्णनों में पा जाते थे उसीसे संतोष कर लिया करते थे। उनके हृदय में प्रकृति का कोई स्वतंत्र स्थान न था। उसका उपयोग प्रायः नायक-नायिकाओं के विरह को उद्दीप्त करने के लिए ही होता था। परिणाम यह हुआ कि कविता में एकरूपता आ गई और बार बार पिष्टपेषण के कारण उतना अनुरंजन भी नहीं रह गया। दो एक कवियों ने 'क्षणे क्षणे या नवतामुपैति' का आदर्श सामने रखा भी पर उन्होंने उस कवि-प्रतिभा का प्रयोग क्लिष्ट कल्पना करने में ही किया। इधर के कवि स्वयं प्रकृति को देख कर उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, पुस्तकों के पन्नों को उलट कर नहीं। अतः स्वतः निरीक्षण द्वारा प्राप्त कुछ नवीन तथ्यों का भी उपयोग हुआ। इससे कविता की एकरूपता तो अवश्य दूर हुई, उसमें नवीनता तो अवश्य आई, पर साथ ही उसमें उच्छृंखल व्यक्तिवाद भी घुस आया। व्यक्ति-गत रुचि और अनुभूति पर अधिक विश्वास रखने के कारण

आजकल की बहुत सी उक्तियाँ लोक की सामान्य हृदय-भूमि से दूर पड़ी रहती हैं और कल्पनाएँ क्लिष्ट (forfetched) हो जाती हैं। * लोग यह नहीं सोचते कि नवीनता और असामान्यता की भी एक सीमा होती है। उसके अतिक्रमण से, प्राचीनता के सर्वथा त्याग से नई वस्तु आश्चर्यजनक भले हो जाय पर उतनी आह्लादकारिणी नहीं हो सकती जितनी नवीनता और प्राचीनता के सामंजस्य से हो सकती है। इस विषय में आगे चलकर (जहाँ कलापक्ष का विवेचन होगा) विचार किया जायगा।

प्राचीन और नवीन कविता में उत्साह भाव

अब उत्साह भाव को लीजिए। जिस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने चार प्रकार की ही रति को काव्योचित माना था, उसी प्रकार चार प्रकार के उत्साह को भी। पर इनमें से सबसे अधिक युद्धोत्साह को अपनाया। इसका कारण संभवतः यह था कि अन्य तीन प्रकार की वीरताओं की अपेक्षा युद्धवीरता अधिक व्यापाराश्रयी है और प्राचीन काल की कविता मेंव्यापार (Action) का महत्त्व विचार (Thought) से कम न था। इसके अतिरिक्त युद्धोत्साह अन्य प्रकार के उत्साहों से

* 'छुपी सी पी सी मृदु मुसकान' में 'पी सी', 'चाँदनी में स्वभाव का वास' में 'चाँदनी', 'विचारों में बच्चों की साँस' में 'बच्चों की साँस' का अर्थ बिना कल्पना के कैसे निकल सकता है।

अपेक्षाकृत अधिक संक्रामक और व्यापक है। यह मनुष्य की सभ्यावस्था एवं असभ्यावस्था दोनों में पाया जाता है। साथ ही इसके मूल में व्यक्तिगत स्वार्थ कम और लोकरक्षण की प्रवृत्ति अधिक रहती है। अतएव यह लोक के अधिक काम का है। संस्कृत-साहित्य में तो चारो प्रकार की वीरता मिलती है पर हिंदी-साहित्य में युद्धोत्साह के अतिरिक्त औरों का प्रायः अभाव सा है।

यों तो भारतवर्ष का उत्साह विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी से ही सो सा गया था। हाँ, प्रबंध-काव्यों में कहीं कहीं चमक उठता था। धर्मोत्साह, दानोत्साह और दयाविषयक उत्साह तो नहीं ही पनपे। पर मुसलमानी शासन के उत्तर काल में युद्धोत्साह प्रबल पड़ा। इसके पूर्व जो वीरता पर कविता हुई उसे विशुद्ध वीरकविता नहीं कह सकते। वीरगाथा काल का वीररस श्रृंगार के साथ मिला जुला आया है, स्वतंत्र रूप में बहुत कम। करुण का आधार लेकर यदि यह वीरता चलती तो इसका रूप अधिक निखरता चलता। पर ऐसा नहीं हुआ। ऐसा हो भी कैसे, रासो काव्यों के पढ़ने से स्पष्ट पता चलता है कि उस समय कवियों में उदात्त भावनाओं का अभाव सा था। प्रायः कविगण राजा नाम-धारी व्यक्तियों की झूठी प्रशंसा में ही अपनी कविप्रतिभा का अप-व्यय करते रहते थे। भूषण, लाल आदि कुछ थोड़े से कवि ही उत्कृष्ट मार्ग पर चले। भूषण ने शिवराज की स्तुति इसलिए नहीं की है कि वे भूषण के आश्रयदाता थे, वरन् इसलिए की है कि

वे अत्याचार और अन्याय का दमन करने वाले थे। "दौलत दिल्ली की पाय कहाए अलमगीर बब्बर अकब्बर के विरद विसारे तैं" से स्पष्ट पता चलता है कि भूषण इसलाम धर्म के नहीं, अन्यायी और अत्याचारी औरंगजेब एवं उसके कर्मचारियों के विरोधी थे। शिवराज के हृदय का योग शिष्ट समाज के हृदय से था, औरंगजेब सामान्य आलंबन था और भूषण का हृदय समाज का प्रतिनिधि-हृदय था। यही स्वरूप युद्धवीर काव्य का होना चाहिए। उदात्त भावना के विचार से जैसे इन कवियों की कविता श्लाघ्य है वैसे ही उसमें ओज का भी अभाव नहीं है, पराक्रम का अच्छा उत्कर्ष दिखाया गया है। पर अलंकारों के बोझ और जानकारी-प्रदर्शन के आडंबर से इस समय की कविता कुछ लँगड़ी और शिथिल भी दिखाई पड़ती है।

यह तो हुई उस कविता की बात जिसके विषय उच्च वर्ग के व्यक्ति होते थे। अब थोड़ा सा विचार उस कविता पर भी कर लेना चाहिए जिसके विषय देवता होते थे। इस कविता के संबंध में बेधड़क कहा जा सकता है कि उसका स्थान नरकाव्य से अधिक ऊँचा है। पर जिस प्रकार भक्त कवियों के प्रेम का स्वरूप दांपत्य प्रेम होने पर भी दांपत्य प्रेम नहीं माना जाता उसी प्रकार देवविषयक वीरकाव्य को भी युद्धवीर-काव्य नहीं कह सकते। यहाँ भी वीरता के मूल में भक्ति-भावना छिपी हुई है। हनुमान, दुर्गा, नृसिंह आदि कोरे वीर ही नहीं आराध्य देव भी हैं। ऐसे वीरकाव्यों की कविता उसी प्रकार श्लाघ्य है

जिस प्रकार भक्त कवियों की प्रेमसंबंधी कविता। इसका कारण यह है कि वीर-देवकाव्यों के उत्साह भाव के आश्रय हिंदू जनता के सामान्य (common) और व्यापक आश्रय हैं क्योंकि इनकी शक्ति लोकमंगल के विधान में रत है, इनका ओज लोक-रक्षक और लोकरंजक है।

मुसलमानों के शासन के अनंतर अँगरेजों के शासनकाल में देश में राजनीतिक हलचल मची और कांग्रेस ने जोर पकड़ा। इससे राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ, जिससे उत्साह का क्षेत्र विस्तृत हो गया। पुरानी कविता में युद्धोत्साह की प्रधानता थी, इसलिए आलंबन पक्ष (शत्रु) का उत्कर्ष ओज को बढ़ाता था—

"डहडहे डंकन के सबद निसंक होत,
बहबहीं सत्रुन की सेना जोर सरकी।
'हरिकेस' सुभट बटान की उमंग उत,
चंपति को नंद कोप्यो उमँग समर की॥
हाथिन की मंड मारू-राग को उमंड त्यों त्यों,
लाली झलकति मुख-छत्रसाल वर की।
फरकि फरकि उठें बाँहैं अस्त्र बाहिबे कौं,
करकि करकि उठें करी बखतर की॥"

पर वर्तमान काल में देशविषयक उत्साह प्रबल हो उठा। अस्तु, खून उबलने के लिए खून देखने की आवश्यकता पड़ने लगी; अपने अपकर्ष की भावना लेकर जोश बढ़ाने का प्रयत्न होने लगा—

"चाँदी-सोने की आशा पर, अंतस्तल का सौदा,
हाँथ-पाँव जकड़े जाने को, आमिष-पूर्ण-मसौदा,
टुकड़ों पर जीवन की साँसें,—कितनी सुंदर दर है,
हूँ उन्मत्त, तलाश रहा हूँ,—'कहाँ वधिक का घर है?'
दमयंती के 'एक चीर' की —
माँग हुई बाजी पर।
देशनिकाला स्वर्ग बनेगा,
तेरी नाराजी पर!!"

यद्यपि अपने अपकर्ष पर रोना जितना स्वाभाविक हो सकता है उतना गर्जना नहीं। फिर भी दुःख के आधार पर खड़ा हुआ उत्साह अनर्गल नहीं दिखाई पड़ता। कभी कभी शोक से क्रोध होता है जो आगे चल कर उत्साह में परिवर्तित हो जाता है। यह बात दूसरी है कि उससे वीरभावनाएँ पर्याप्त रूप में न उमड़ें। स्फुट कविता से यह है भी बहुत कम संभव। इसके लिए तो पुराने ढंग के प्रबंध-शैली पर लिखे गए वीरकाव्य ही उपयुक्त हो सकते हैं जिसका आधुनिक काल में शोचनीय अभाव है। माता के स्नेह और पत्नी के प्यार को ठुकराते हुए 'जयद्रथ-वध' में वीर अभिमन्यु का राष्ट्रीय यज्ञ में प्राणों की आहुति देने का उत्साह हमें जिस वीर और राष्ट्रीय भावना से भर देता है वैसी भावना 'उद्बोधन' क्या पूरी 'भारत-भारती' से भी नहीं होती।

राष्ट्रीय भावना ने देशविषयक उत्साह को तो जन्म दिया ही, साथ ही इससे एक प्रकार का उत्साह और पल्लवित हुआ।

हमारी भारतीय संस्कृति में सत्य का माहात्म्य पुरातन है, पर महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन से इसकी स्तुति और भी बढ़ गई। कविगण गाने लगे—

"... ... ...

सत्यरूप हे नाथ ! तुम्हारी शरण रहूँगा
जो व्रत है ले लिया लिए आमरण रहूँगा
ग्रहण किए मैं सदा आपके चरण रहूँगा
भीत किसी से और न हे भयहरण ! रहूँगा।
पहली मंजिल मौत है प्रेम-पंथ है दूर का
सुनता हूँ मत था यही सूली पर मंसूर का"

—सनेही

इसी प्रकार अनेक प्रकार की सद्भावनाओं के उद्गार प्रकट किए जाने लगे। देश के बालकों, स्त्रियों, दलित जातियों इत्यादि को प्रोत्साहन दिया जाने लगा और वे राष्ट्रीय युद्ध के लिए आमंत्रित किए जाने लगे।* मातृभूमि के दुःख को और अपनी असमर्थता को देखकर इस प्रकार का आश्वासन मिलने लगा—

"माँ मेरे जीवन की हार
तेरा मंजुल हृदय-हार हो
अश्रुकणों का यह उपहार ;
मेरे सफल श्रमों का सार
तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
श्रम-जलमय मुक्तालंकार।

---

* उदाहरण आलंबन विभाव पर विचार करते हुए दिए जा चुके हैं।

मेरे भूरि दुखों का भार
तेरी उर-इच्छा का फल हो
तेरी आशा का शृंगार
मेरे रति, कृति, व्रत-आचार
माँ ! तेरी निर्भयता हों नित
तेरे पूजन के उपचार —
यही विनय है बारंबार ।

—पंत

बहुत से कवि संभवतः कष्टसहिष्णुता और उत्साह को एक ही मान बैठते हैं। पर यह बिलकुल बे-सिर-पैर की बात है। सब प्रकार की कष्टसहिष्णुता उत्साह के अंतर्गत नहीं आ सकती। फोड़ा चिरवाने वाला वीर नहीं हो सकता। जैसा पहले लिखा जा चुका है वीरता उस साहस को कहते हैं जिसका साथी आनंद हो। उसासों से जगत् को जलाने वाली, आँसुओं से व्रज को बहाने वाली, अपने दुखड़ों को सुना सुना कर व्रज-पथिकों का मार्ग छुड़ाने वाली, स्वप्न के मिथ्या सुखों तक के लिए तरसने वाली गोपिकाएँ क्या वीर कही जा सकती हैं ? गोपियों का कष्ट सहना उत्साह के कारण नहीं, प्रेम के कारण है। वह उत्साह का अंग नहीं, प्रेम का अंग है। इस प्रकार गोपियों को वीर प्रेमिका न कह कर अनन्य प्रेमिका कहना ही उचित है। हाँ, वीरों के नाम गिनाने वाले कवियों के लिए सब क्षम्य है।

अब तक इस विषय में जो कुछ कहा गया है उससे इस बात का आभास सरलता से मिल सकता है कि 'वीरपंचरत्न' और 'जयद्रथ-वध' ऐसे दो एक काव्यों को छोड़कर अधिकांश नवीन वीरकाव्यों में वीरत्व के बाह्य और आभ्यंतर दोनों पक्ष नहीं रहते जिसमें युद्ध-व्यापार का भी वर्णन हो और हृदय की उमंग, साहस आदि का भी। नवीन कविता की प्रवृत्ति वीरत्व के आभ्यंतर स्वरूप के दिग्दर्शन की ओर अधिक रहती है। नीचे उद्धृत पद्य में पुरानी कविता की भाँति वीर रूप दिखलाने के लिए न तो 'बख्तर की करी करकाई' गई है और न 'अस्त्र वाहिबे कौं बाहैं' फड़काई गई हैं; वरन् उसमें वीर हृदय की उच्चता और उदारता का सुंदर चित्र भर सामने रखा गया है—

कहा तमक कर तब प्रताप ने—"क्या कहा—
अनुचित बल से लेना काम सुकर्म है!
इस अबला के बल से होगे सबल क्या?
रण में टूटे ढाल तुम्हारी जो कभी
तो बचने के लिए शत्रु के सामने
पीठ करोगे? नहीं, कभी ऐसा नहीं,
दृढ़-प्रतिज्ञ यह हृदय तुम्हारी ढाल बन
तुम्हें बचावेगा। इस पर भी ध्यान दो
घोर अँधेरे में उठती जब लहर हो
तुमुल घात-प्रतिघात पवन का हो रहा
भीमकाय जलराशि क्षुब्ध हो सामने

कर्णधार-रक्षित-दृढ़-हृदय सु-नाव को
छोड़, कूदना तिनके का अवलंब ले
घोर सिंधु में, क्या बुधजन का काम है ?
परम सत्य को छोड़ न हटते वीर हैं।
सालुंब्राधिपते ! क्या अब होगा यही
क्षुद्र-कर्म इस धर्मभूमि मेवाड़ में ?
और 'अमर' ने ही नायक हो कर स्वयं
किया अधम इस लज्जाकर दुष्कर्म को !
बस बस, ऐसे समाचार न सुनाइए
शीघ्र उसे उसके स्वामी के पास अब
भेज दीजिए, बिना एक भी दुख दिए।
सैनिक लोगों से मेरा संदेश यह
कहिए कभी न कोई क्षत्रिय आज से
अबला को दुख दे, चाहे हो शत्रु की।
शत्रु हमारे यवन—उन्हीं से युद्ध है
यवनीगण से नहीं हमारा द्वेष है।
सिंह क्षुधित हो तब भी तो करता नहीं
मृगया, डर से दबी शृगाली वृंद की।"

—प्रसाद

सारांश यह कि सांगोपांग वीररस को पुराने कैंड़े के कवियों ने जैसा लिया वैसा आजकल के नए कवि नहीं लेते। विश्वप्रेम और वीर का संभवतः मेल भी नहीं खाता। यद्यपि 'अनंत

प्रेम' का 'अमर्ष' से विशेष विरोध होना चाहिए था, किंतु आश्चर्य है कि उसका उतना अभाव नहीं है। आधुनिक कवियों के उत्साह के भीतर अमर्ष कहीं कहीं पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ मिलता है। कहीं कहीं वेदना, उत्साह और अमर्ष की अच्छी खिचड़ी तैयार हो जाती है—

"दिल को मसल-मसल मेंहदी
रचवा आया हूँ मैं यह देखो
एक-एक अंगुलि-परिचालन में
नाशक-तांडव को पेखो
विश्वमूर्ति! हट जाओ,—यह
वीभत्स प्रहार सहे न सहेगा,
टुकड़े-टुकड़े हो जाओगी,
नाश-मात्र अवशेष रहेगा
आज देख आया हूँ—जीवन के
सब राज समझ आया हूँ,
भ्रू-विलास में महा नाश के,
पोषक-सूत्र परख आया हूँ;
जीवन-गीत भुला दो-कंठ मिला दो
मृत्यु-गीत के स्वर से,
रुद्र-गीत की क्रुद्ध-तान
निकली है मेरे अंतर-तर से!!!

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि नए ढंग की वीर-

रस की कविता का कोई निश्चित ढंग नहीं है। इसमें 'उत्साह' कहीं शोक के साथ और कहीं अमर्ष के साथ उलझता चलता है। इसका कारण यही है जो आगे कहा जा चुका है—आजकल कविगण प्रभावान्विति (Unity of impression) की परवा नहीं करते। यह नवीन ढंग की कविता का सबसे प्रधान दोष है। विशेषतः वीररस तो संभवतः इस अन्विति के बिना सफल हो ही नहीं सकता।

प्राचीन और नवीन कविता में हास भाव

हास्य रस के संबंध में विचार करते हुए यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह और रसों से भिन्न है। दूसरे रसों की पुष्टि अनुभाव आदि अवयवों की योजना से ही होती है पर हास्य के लिए यह आवश्यक नहीं है, प्रायः आलंबन की सम्यक् योजना से ही रस-निष्पत्ति हो जाती है। इसमें अंतर्वृत्तियों के विश्लेषण के लिए यथोचित क्षेत्र नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त, जैसा आगे कहा जा चुका है, कई कारणों से यह भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं पड़ता। इन सब कारणों से इसका विकास न तो प्राचीन हिंदी कविता में हुआ और न नवीन में। वर्तमान काल में नाटकों और कुछ कहानियों में इसकी अच्छी योजना मिल भी जाती है, परंतु कविता में हास्य रस ढूँढ़ने से ही मिलता है। जो मिलता है वह काव्य की कोटि में आ सकता है इसमें बहुत बड़ा संदेह है। पर जिस रूप में मिलता है उसका निर्देश तो होना ही चाहिए।

पुराने प्रबंध-काव्यों में कवि लोग कहीं कहीं हास्य रस के छींटे उड़ा देते थे। इसी प्रकार रीतिग्रंथ लिखते समय उदाहरणों के लिए और दरबारी कवि दिल्लगी के लिए हास्य के कुछ स्फुट छंद रच लिया करते थे। इस प्रकार के हास्य का प्रायः मुख्य आधार विकृत आकृति अथवा विकृत वचन हुआ करता था। पर वह हास्य घृणा, उपेक्षा इत्यादि भावों का कारण नहीं होता था प्रत्युत आनंद देता था और प्रिय लगता था। बिहारी के वैद्य जी को देख कर विनोद ही होता है; घृणा, विरक्ति आदि भावना नहीं—

अति धन लै अहसान कै पारो देत सराहि
बैद-बधू हँसि रहसि सौं रही नाह-मुँह चाहि ”

इसी प्रकार नारद और उद्धव भी घृणास्पद नहीं हैं। बेनी कवि की 'घर की बरबादी' भी हँसाती है, घृणा इत्यादि नहीं पैदा करती—

“आध पाव तेल में तयारी भई रोसनी की,
आध पाव रुई में पोसाक भई घर की।
आध पाव छाले को गिनौराँ दियो भाइन को,
माँगि माँगि लायो है पराई चीज घर की॥
आधी आधी जोरि 'बेनी' कवि की बिदाई कीनी,
ब्याहि आयो जब तें न बोले बात थिर की।
देखि देखि कागद तबीयत सु मादी भई,
सादी काह भई बरबादी भई घर की॥”

पर नवीन कविता में विनोद ही विनोद नहीं रहता। आज-कल के कवि आलंवन के प्रति और भी कोई भाव—उपेक्षा, घृणा, विरक्ति इत्यादि दिखाने का प्रयत्न करते हैं—

समालोचक

"मैं फेल हूँ 'मिडिल' पर बी० ए० के कान काटूँ।
ऐसा सपूत हूँ मैं, अब्बा को घर के डाँटूँ॥
बन करके साँप काला, लेखक को काट खाऊँ।
गुरु जी की खोपड़ी पर सोंटे सदा जमाऊँ॥

× × ×

खाता हराम का हूँ मैं घूसखोर पक्का।
आँखों की किरकिरी हूँ बाजार का उचक्का॥

× × ×

कल-कल के छोकड़े जो मेरी करेंगे पूजा।
उनसा न और कोई होगा हकीम दूजा॥
जिसको कहो पछाड़ूँ रुस्तम का बन अखाड़ा।
मुझको रहे मुबारक मेरा कलम कुल्हाड़ा॥

आजकल हास्य रस के विधान के लिए कवि वचन-वक्रता (Irony) का आधार तो लेते ही हैं साथ ही बेमेल भाषा द्वारा भी हँसाने का प्रयत्न करते हैं—

"नेकटाइन्कालरश्चैव मस्तके जुल्फिरेव च।
अक्षीणि आइग्लासश्च जैंटिलमैनस्स उच्यते॥"

—चोंच—महाकाव्य

"तुमसे अपना अब चाहता हूँ,
कर लेना बिना कुछ देरी कनेक्शन।
'चोंच' अट्रेक्शन हो रहा है,
सच हूँ कहता इन योर डिरेक्शन॥
कढ़ती तुम हो नहीं नैनन से,
पढ़ती तुम हो इन एक ही सेक्शन।
तुम ताकती हो हमको न कभी;
मरते हम हैं इन योर अफेक्शन॥

—चोंच-चालीसा

हमारे यहाँ पश्चिम की तरह हास द्वारा जीवन के सिद्धांतों (Philosophy of life) की व्याख्या नहीं की गई है; केवल मनोरंजन के लिए ही इसका उपयोग हुआ है।

खेद है कि हास्य रस में नवीन ढंग की कविता लिखने वाले कवियों के छंद उदाहरण के लिए भी नहीं मिले। दुःखवादी कवियों से यह आशा भी नहीं करनी चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्तमान काल में हास के विषय तो अवश्य बढ़े * पर कविता वैसी नहीं हुई; जो हुई है वह बहुत थोड़ी। अस्तु, नवीन कविता में हास्य रस का वैसा विकास नहीं हो पाया।

भावों के विवेचन में यह भली भाँति दिखाया जा चुका है

---

* देखिए पीछे, पृष्ठ २५–२६।

कि मनोविकारों का कारण जीवन की इच्छा है। इस इच्छा के मूल में दो बातें पाई जाती हैं—(१) सुख की प्राप्ति और (२) दुःख की निवृत्ति। इनकी साधना का जैसा अवसर करुणा देती है वैसा दूसरे भाव नहीं। इसके अतिरिक्त

प्राचीन और नवीन कविता में शोक

'शृंगार रस को छोड़ कर' और रसों में न तो इतनी व्यापकता है, न इतनी तीव्रता ही और न इतना स्थायित्व जितना शोक में है। हास तो बहुत ही क्षणिक होता है, विस्मय में भी हम बहुत देर तक नहीं पड़े रह सकते, क्रोध की भी घंटे दो घंटे की ही अवधि होती है, जुगुप्सा से तो मनुष्य की स्वाभाविक घृणा है, उत्साह कुछ ठहरता अवश्य है पर करुणा के समान नहीं। सारांश यह कि काव्य में रति के अनंतर करुणा का ही स्थान है। किसी किसी ने तो इसे ही प्रधान रस कहा है। इसे शृंगार से भी ऊँचा स्थान दे दिया है। अपने यहाँ भवभूति ने "एको रसः करुण एव..." कहा ही है।* आधुनिक कवि पंत इत्यादि भी उसे सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं।† पाश्चात्य कवि शेली

---

* देखिए पीछे, पृष्ठ ४२।

† वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान।

ने भी इसे कविता में सर्वोत्तम माना है। ⊛

करुणा का प्रेरक भाव शोक है। यह शोक हमारी कविता में तीन रूपों में पाया जाता है—(१) इष्ट वस्तु के नाश से, (२) प्रिय व्यक्ति के निधन या पीड़ा से और (३) अपनी विपत्ति या कष्ट से। यद्यपि इष्ट के नाश का अर्थ वहुत ही व्यापक है, पर हमारे यहाँ की पुरानी कविता में शोक मुख्यतः आत्म-पत्त तक ही रहा। हाँ, तुलसी ऐसे कुछ भक्त कवियों ने अलवत लोकपीड़ा, अव्यवस्था आदि पर दुःख किया है—

"दीनदयालु, दुरित दारिद दुख
दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव - दुवार पुकारत आरत,
सवकी सब सुख-हानि भई है॥
... ...
राज - समाज कुसाज कोटि कटु
कलपित कलुप कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परिमित पति
हेतुवाद हठि हेरि हई है॥
आस्रम - वरन - धरम - विरहित जग
लोक - वेद - मरजाद गई है।

⊛ Our sweetest songs are those that tell of saddest thought.

प्रजा पतित पाखंड पापरत,
अपने अपने रंग रई है ॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि,
बढ़ी कुरीति कपट-कलई है ।
सीदत साधु साधुता सोचति,
खल विलसत हुलसति खलई है ॥

... ...

दीजै दादि देखि नातौ बलि,
मही मोद-मंगल-रितई है ।
भरे भाग अनुराग लोग कहैं,
राम-कृपा-चितवन चितई है ॥
विनती सुनि सानंद हेरि हँसि,
करुना-बारि भूमि भिजई है ।
रामराज भयो काज सगुन सुभ,
राजा राम जगत-विजई है ॥

... ...

—विनयपत्रिका

हमारे कहाँ करुण रस को प्रधानता तो अवश्य दी गई है, पर शोक को वह स्थान कभी नहीं दिया गया जो जीवन को कुचलने वाला हो। सिद्धांत पक्ष में यह संसार त्रितापों का केंद्र अवश्य स्वीकार किया गया है पर काव्य ने इसकी परवा नहीं की

है। हमारे यहाँ दुःखों का पर्यवसान सदा सुख में हुआ है जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है।

किंतु आज की प्रवृत्ति कुछ भिन्न है। इसका कारण कुछ तो जीवन की कठिनाइयाँ हैं और कुछ नकल की बुरी लत। पश्चिम में आजकल निराशावाद (Pessimism) की बहुत चर्चा है। अतः हमारे यहाँ के कवि भी अपने आदर्श को भूल कर कौए को कान ले जाते सुन दौड़े पड़ते हैं, कान को टटोलने का कष्ट नहीं उठाते। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि दुःखवाद या निराशावाद हमारे यहाँ था ही नहीं। आध्यात्मिक पक्ष में वह भी था। पर उसके मूल में भी सुख छिपा हुआ था। हमारे ऋषि-मुनि पार्थिव सुख को तिलांजलि परम सुख की प्राप्ति के लिए देते थे। पर आज हम अध्यात्म का राग अलापने वालों से सुनते हैं—

"तुझको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुझमें ढूँढ़ूँगी पीड़ा"

—महादेवी वर्मा

मानों पीड़ा के अतिरिक्त आज हमारे लिए साधना के क्षेत्र में कुछ बचा ही नहीं। इस प्रकार की वेदना हमारी नई कविता में बहुत बढ़ रही है। इसे नए समीक्षक आध्यात्मिक शोक की व्यंजना कहते हैं। इसी का एक बच्चा और है जिसे वे अलौकिक वियोग की विकलता कहते हैं—

"निष्ठुर पीड़न ही है मेरी,
मधुर प्रीति का प्रिय उपहार।"

—द्विज

इस प्रकार की पीड़ा प्रेम की मधुर पीड़ा होनी चाहिए; इसीलिए रति के अंतर्गत वही वियोग आता है जिसमें पुनः समागम की आशा हृदयस्थ होती है। परंतु कहीं कहीं तो उससे प्रेम हुआ तब से—

"वह अलभ्य है और दूर है;
उस पर क्या मेरा अधिकार?"

—द्विज

प्रेमी का यह प्रिय न कभी मिलेगा और न कभी दुःख जायगा। जब उन्हीं के मुख से सुना जाता है—

"बैठ बाट में जोह रहा हूँ,
इस आकुलता से किसकी
स्वप्न जगत में सदा देखता
विहसित छवि-छाया जिसकी"

—द्विज

तब मुँह से अचानक निकल जाता है कि यह जगत् विचित्रताओं का घर है असंभव भी संभव हो सकता है। द्विज जी भी प्रसाद जी की भाँति 'मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए' कह हृदयोल्लास से अपने जीवन के अंधकार को हटा सकते हैं। किंतु महादेवी जी के उद्धार के लिए कोई साधन नहीं दिखाई देता।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकार का आर्तनाद हिंदी-कविता में क्यों फैला है? इसका उत्तर सिवा इसके और क्या

हो सकता है कि वर्तमान शिक्षा के प्रभाव से हमारी अभिलाषाएँ महत्त्वाकांक्षा (Ambition) में बदल जाती हैं, पर उसकी पूर्ति होती नहीं। कहीं हमारा दांपत्य जीवन हमारे सुख में टाँग अड़ाता है, कहीं सामाजिक जीवन हमारी इच्छाओं को कुचलता है, कहीं आर्थिक परिस्थिति हमें उतना सुख नहीं समेटने देती जितना हम चाहते हैं। अस्तु, बरबस रो पड़ते हैं—

"दुख की दीवारों का बंदी
निरख सका न सुखी जीवन,
सुख के मादक स्वप्नों तक से
बनी रही मेरी अनबन;"

—हरिकृष्ण 'प्रेमी'

यहाँ तक ठीक है। इतना होना यदि उचित नहीं तो अस्वाभाविक भी नहीं है। पर कवि जगत् का नकलची मात्र नहीं है। वह कलाकार है, समाज का प्रतिनिधि है, समस्त जगत् में विचरण करने वाला पथिक है, अपने दरवाजे पर बैठकर अपनी दुःखगाथा सुनाने वाला रोगी नहीं। उसे एकांगी जीवन का व्यक्ति न होना चाहिए। ऐसा हो कर वह समाज को कुछ दे नहीं सकता। यही कारण है कि जो सच्चे कवि जगत् और जीवन की अनुभूतियों से संपन्न हैं, अपना कुछ आदर्श समझते हैं, वे सदा अपनी कविता को जीवन की ही वस्तु बनाए रहते हैं। उनकी वाणी अमर विश्व-वाणी होती है। एक ओर जब वे संसार की दुर्व्यवस्था देखते हैं तो कहते हैं—

"सिसकते हैं समुद्र से मन,
उमड़ते हैं नभ से लोचन;
विश्ववाणी ही है क्रंदन,
विश्व का काव्य अश्रुकन!

गगन के भी उर में है घाव,
देखती ताराएँ भी राह;

बँधा विद्युत् छवि में जलवाह,
चंद्र की चितवन में भी चाह;
दिखाते जड़ भी तो अपनाव,
अनिल भी भरती ठंडी आह!"

—पंत

किंतु जब उनकी दृष्टि सौंदर्य और माधुर्य संचित करने वाली 'मधुकरी' पर, सरलता और स्नेह का साकार स्वरूप 'शिशु' पर, लोकरंजन-कारी 'बादल' इत्यादि पर पड़ती है तब कहने लगते हैं—

"जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव जग में बँट जावे
दुख सुख से औ सुख दुख से
मैं नहीं चाहता चिर-सुख
चाहता नहीं अविरत दुख
दुख सुख की खेल-मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख"

—पंत

वस्तुतः काव्य की सच्ची साधना यही है। अपने इसी गुण के कारण कवि स्रष्टा कहा जाता है। यह साधना प्रत्येक सच्चे कवि में मिलती है। पुराने कवियों में भी दुःखवाद दिखाई देता है—

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, वलि,
वनिक को वनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका - विहीन लोग सीधमान सोच - बस
कहैं एक एकन सों "कहाँ जाई का करी?"॥
वेदन पुरान कही लोकहुँ विलोकियत
साँकरे समै में राम रावरे कृपा करी।
दारिद - दसानन दवाई दुनी, दीनवंधु,
दुरित - दहन देखि तुलसी हहा करी॥

—गो० तुलसीदास

पर महात्मा जी को यह वेदना न तो जीवन की तरह प्रिय है और न असीम। वे लोक-मंगल की आशा रखते हैं और उसके लिए राम-राज्य की स्थापना का प्रस्ताव लाते हैं। सारांश यह कि दुःखवाद हमारे यहाँ भी रहा अवश्य, पर वह जीवन को कुचलने वाला पाश्चात्य निराशावाद नहीं था और न उसकी यहाँ आवश्यकता ही है। यह दिखलाया जा चुका है कि हमारे यहाँ के सच्चे कवि हार्डी (Hardy) इत्यादि को अपना गुरु भी बनाना नहीं चाहते।

यह तो हुई आध्यात्मिक दुःखवाद की बात। इसके अतिरिक्त

आधुनिक कविता में शोक का एक स्वरूप और मिलता है जिसे राष्ट्रीय-भावनामूलक कह सकते हैं। इसका आलंबन भारत का अतीत गौरव, देश-दारिद्र्य इत्यादि है। पर यहाँ भी 'करुणा' का कोई स्पष्ट रूप नहीं दिखाई देता। यह कहीं 'अमर्ष' के साथ और कहीं 'रति' के साथ उलझता चलता है। 'उत्साह' के मूल में यह 'शोक' तो बहुत स्वाभाविक और मंगलकारी दिखाई देता है, पर अन्य भावों के साथ प्रलाप सा बन जाता है। कुछ भी हो इस भावना से स्फुट कविताएँ तो हो ही रही हैं, साथ ही खंडकाव्य और कवितामयी कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं। जहाँ आलंबन विभाव पर विचार किया गया है वहाँ इसके अनेक उदाहरण आ चुके हैं। * अतः यहाँ एक भिन्न प्रकार का उदाहरण और देकर यह प्रकरण समाप्त किया जाता है—

"बता, कहाँ अब वह वंशीवट ?
कहाँ गए नट-नागर, श्याम ?
चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृंदा धाम ?
कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्याम-विरह से तप्त शरीर

कहना न होगा कि शोक की यह व्यंजना प्राचीन पद्धति की भाँति है—

---

* देखिए पीछे, पृष्ठ २६।

किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछते वे दृग - नीर ?
कहाँ छलकते अब वैसे ही
ब्रज - नागरियों के गागर ?"

—निराला

"सहस अठ्यासी स्वर्ण-पात्र में जेंवायो ऋषि,
धर्मराज और के अधीन अन्न पावै है ।
अर्जुन त्रिलोक को जितैया भेष वनिता के
नाटक-सदन बीच नारिहिं नचावै हैं ॥
राजा तू वकासुर हिडंव को करैया वध,
पाचक ह्वै बिराट को रसोई पकावै है ।
माद्री के सुजसधारी दोनों ही सुरूपमनि
एक अस्त्र बीच एक गोधन चरावै है ॥"

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से हृदय में एक ही प्रकार की कसक का अनुभव होता है और हृदय आर्द्र होकर कोमल एवं संवेदना-पूर्ण हो जाता है ।

प्राचीन कविता में क्रोध का मुख्य आलंवन शत्रु होता था । उसके अपराध से क्रोध का संचार होता था । उसके आ जाने पर क्रोधी व्यक्ति अपने पूर्व गौरव का गान करने के लिए गरजता तड़पता था । किंतु नवीन कविता में हमारे ही व्यापार हमारे शत्रु हैं । इसलिए हमारे क्रोध की भी सीमा नहीं है । आधुनिक

प्राचीन और नवीन कविता में क्रोध

कवि के क्रोध का कारण होता है लोक की दुर्व्यवस्था, अन्याय, अत्याचार का साम्राज्य। यदि वह दुर्व्यवस्था दूर नहीं होती है तो कवि संपूर्ण भूमंडल का और उसके साथ अपना भी नाश चाहता है। हम अन्यायी, अत्याचारी किसी शत्रु विशेष का ही क्षय नहीं चाहते, भले बुरे सबका विनाश देखना चाहते हैं। पर अपने बाहुबल के भरोसे नहीं—

"गगन पर घिरो मंडलाकार
अवनि पर गिरो वज्र सम आन
गरज कर भरो रुद्र - हुंकार
यहाँ पर करो नाश का साज
मचे तांडव - नर्तन फिर आज
चुका ले महाकाल निज व्याज।"

—भगवतीचरण वर्मा

वस्तुतः क्रोध तो ऐसे ही मनोवेग को कहते हैं जिसमें भले बुरे का ज्ञान न रह जाए। संसार की जितनी वस्तुएँ हैं उनकी एक सीमा होती है। क्रोध की भी एक सीमा होती है। इसी विचार से परशुराम जी ऐसा क्रोधी अपने को संयत कर लेता था—क्रोध के आवेश में उन्होंने 'उलटौं महि' तो कह दिया परंतु शीघ्र ही अपने को सँभाल लिया—'जहँ लगि तव राजू' कह कर निरपराधियों के जानमाल की रक्षा कर ली। यह तो हुई परशुराम और जनक की बात। लक्ष्मण के उलझने पर उनका

क्रोध और भी बढ़ जाना चाहिए। किंतु, 'अकरुन कोही' होते हुए भी इतना ही कह सके—

"देख , ये कुठार क्रूर कर्म हैं अपार याके,
कै कै अपमान विप्र जान इतरावै तू।
छत्रिन पतन्निन ज्यों काटि की निछत्र मही,
क्यों रे ! छत्रिवाल भूलि काल हँकरावै तू॥"

इसमें कोई संदेह नहीं कि परशुराम हमारे सामने केवल क्रोधी ही के रूप में आते हैं, सुधारक के रूप में नहीं। पर नवीन कविता के मूल में सुधार की भावना छिपी दिखाई देती है। परंतु इस प्रकार के क्रोध से लोक-हित की आशा कदापि नहीं की जा सकती। इससे न तो उस वेदना के आवेग का पता चलता है जो इस प्रकार के 'अमर्ष' के मूल में छिपा रहता है और न तो हृदय को दहलाने वाले क्रोध का ही स्वरूप व्यक्त होता है। हाँ, 'कविता का उद्देश्य कविता है' इसका समर्थन अवश्य हो जाता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि नवीन कविता लक्ष्यविहीन होती है। यहाँ तो बात चल रही है प्रवृत्ति की। यों तो जिनके हृदय में सच्ची राष्ट्रीय भावना है, जिनके कान कातर स्वरों से भरे हैं, जिनके नेत्रों ने अन्याय और अत्याचार का नृत्य देखा है उनकी कविता में जीवन और यौवन स्पष्ट दिखाई देता है—

"क्रांति-धात्रि कविते जागे उठ
आडंबर में आग लगा दे

पतन पाप पाखंड जले
जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे !

विद्युत् की इस चकाचौंध में
देख दीप की लौ रोती है
अरी हृदय को थाम, महल के
लिए झोपड़ी बलि होती है

देख कलेजा - फाड़ कृपक
दे रहे हृदय शोणित की धारें
बनती ही उन पर जाती हैं
वैभव की ऊँची दीवारें

धन पिशाच के कृपक मेघ में,
नाच रही पशुता मतवाली
आगंतुक पीते जाते हैं
दीनों के शोणित की प्याली

उठ वीरों की भाव-रागिनी
दलितों के दल की चिनगारी
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला
जाग जाग री क्रांति-कुमारी

लाखों क्रौंच कराह रहे हैं
जाग आज कवि की कल्याणी
फूट फूट तू कवि-कंठों से
बन व्यापक निज युग की वाणी

—रेणुका

नवीन कविता में प्रायः वे ही भाव मिलते हैं जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। अन्य भावों का अभाव सा है। सौंदर्योपासना के युग में जुगुप्सा का तो नाम ही नहीं लिया जा सकता। हाँ, भय और आश्चर्य की व्यंजना रहस्यमयी उद्भावनाओं में हो जाती है।

अन्य स्थायी भाव

रहस्यात्मक कविता में भय का स्वरूप बहुत ही शिथिल रहता है। उसकी पृथक् स्फुट व्यंजना नहीं हो पाती। उसमें प्राचीन कविता की भाँति कलेजे को दहला देने की समता नहीं पाई जाती। भय, आश्चर्य आदि को भी वह रति भाव के भीतर ही लेकर चलती है जिससे उसका पृथक् स्वरूप व्यक्त नहीं होता। जैसे—

"भवसागर के तट पर अजान
सुनती हूँ वह कलरव महान,
एकाकी हूँ कोई न संग,
उठती है रह रह भय-तरंग।
केवल यौवन का भार लिए,
बैठा हूँ सूना प्यार लिए,
करते बादल हैं अश्रु-दान;
घन का सुनती गर्जन महान!
आती हैं तड़ित चिराग लिए;
बिछुड़ी स्मृति का अनुराग लिए।
सहसा कानों में उषा-गान,
झनझना उठा छू शिथिल प्रान।

सागर की धड़कन शांत हुई ;
वह स्वप्न-वाटिका श्रांत हुई !
खिलखिला उठा जग एक वार ,
आ पहुँचा मेरा कर्णधार !"

—चकोरी

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'खिलखिलाहट' के शब्द कान में पड़ते ही भय रफूचक्कर हो जाता है।

विस्मय आनंदात्मक भाव है। पर ऐसा ज्ञात होता है कि नवीन कवियों पर मिला जुला प्रभाव पड़ा करता है। वे एक छोटी कली के अंदर सुषमा, सुगंध आदि के छिपे हुए रहस्यमय संसार को देखकर एक क्षण के लिए आनंदित होते हैं—

"मौन मुकुल में छिपा हुआ जो
रहता विस्मय का संसार
सजनि ! कभी क्या सोचा तूने
वह किसका शुचि शयनागार ?"

—पंत

पर शीघ्र ही विषाद से कह उठते हैं और उनके मुँह से निकल आता है—

"सजनि ! हमारा स्वप्न-सदन क्यों ,
सिहर उठा सहसा थर थर
किस अतीत के स्वप्न अनिल में
गूँज उठे, कर मृदु मरमर ।"

कलापक्ष

अब हम कविता के तीसरे पक्ष पर आते हैं। पहले कहा जा चुका है कि दृश्य जगत् के नाना रूप और व्यापार वन-उपवन, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सुख-दुःख, सुरूप-कुरूप, हित-अनहित इत्यादि मनुष्य के संपर्क में आते हैं और उन सबके चित्र स्वतः उसके मस्तिष्क में अंकित होकर अदृश्य रूप से वहाँ पड़े रहते हैं। इतना ही नहीं, दृश्य जगत् के देखने से उसके प्रति मनुष्य के हृदय में कुछ मनोविकार भी उत्पन्न होते हैं। ये मनोविकार अवसर विशेष पर इतने उद्दीप्त हो जाते हैं कि उन्हें अपने हृदय तक रखना उसके लिए दुष्कर हो जाता है तब वह अदृश्य चित्रों को गोचर रूप देकर अपने मनोविकारों को दूसरों पर व्यक्त करना चाहता है। पर सीधे सीधे उन्हें व्यक्त करने में उसे संतोष नहीं होता अथवा यों कहें कि वह ऐसा कर ही नहीं

सकता। इसके दो कारण हैं—(१) उसके हृदय के भाव इतनी तीव्रता से उत्पन्न होते हैं कि उसे आशंका होती है कि वह सीधे सीधे कहने में अपने भावों का स्वरूप सम्यक् प्रकार से न प्रकट कर सकेगा; वस्तु विशेष का जैसा प्रभाव उसके हृदय में पड़ा है वैसा उसके श्रोता पर न पड़ सकेगा; (२) मनुष्य आदि-काल से सौंदर्योपासक प्राणी है। वह कुरूप से कुरूप वस्तुओं में भी सौंदर्य का विधान करता चलता है। अतः वह अपने उद्दीप्त भावों को सुंदरतापूर्वक व्यक्त करना चाहता है। इन दोनों बातों के लिए वह जो योजना प्रस्तुत करता है वह कविता का कलापक्ष है। इस प्रकार प्रेषण-पद्धति (अभिव्यंजना) कविता का कलापक्ष ठहरती है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे दो प्रश्न उठते हैं-(१) मनुष्य अपने मस्तिष्क में स्थित जिन चित्रों को गोचर रूप देता है वे प्रकृति-खंड के अनुकरण-मात्र होते हैं अथवा उनमें और प्रकृति के रूपों में कोई अंतर होता है? (२) यदि अभि-व्यंजना कला है तो उसका क्षेत्र क्या है? क्या सब प्रकार की अभिव्यंजना कला के अंतर्गत आ सकती है? प्रस्तुत विषय पर आने के पूर्व उक्त दोनों प्रश्नों पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि आजकल कला की बड़ी चर्चा है और उसकी ओट में काव्य के प्रकृत स्वरूप की हत्या सी हो रही है।

प्रथम प्रश्न के उत्तर के लिए साहित्य-शास्त्रियों का मत लीजिए। इसके अनुसार काव्यानंद या कलागत आनंद, ब्रह्मा-

नंद सहोदर अथवा अलौकिक आनंद है। अतः कलागत आनंद प्राकृतिक सौंदर्य से उद्भूत आनंद से अवश्य भिन्न हुआ। इस प्रकार उन्होंने दोनों में अंतर स्पष्ट स्वीकार किया है। यदि साहित्य-शास्त्रियों की लीक पीटने वाले न भी बनें तब भी स्थूल रूप से देखने पर दोनों प्रकार की अनुभूतियों में अंतर दिखाई पड़ता है। सड़े गले वीभत्स दृश्यों का देखना हमें नहीं पसंद है पर काव्य में वे ही दृश्य इतने अरुचिकर नहीं होते। इस प्रकार कला की अनुभूति एक भिन्न प्रकार की अनुभूति प्रतीत होती है पर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि दोनों में तात्त्विक अंतर नहीं है। जो अंतर दिखाई पड़ता है वह इस कारण कि कला या काव्य की अनुभूति सदा आनंद-स्वरूप मानी जाती है पर भावानुभूति सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों रूप में मिलती है। कहना न होगा कि इस धारणा में आंशिक सत्य है। यदि कला की अनुभूति सदा आनंद-स्वरूप ही हो तो कारुणिक दृश्य काव्य में पढ़ने, सुनने अथवा देखने से आँसू न आते। अस्तु, कला-जन्य अनुभूति और प्राकृतिक अनुभूति में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। जब अनुभूतियों में अंतर नहीं है तो उनके आधारों प्रकृति-खंड और कलाकार के चित्र में भी कोई अंतर न होना चाहिए। इस प्रकार कलाकार का दिया हुआ गोचर चित्र प्रकृति-खंड का अनुकरण-मात्र ठहरता है।

यहाँ पूछा जा सकता है कि जब प्रकृति और कलाओं में विभेद नहीं तो फिर कला की आवश्यकता ही क्या? इसका

साधारण उत्तर तो यह हो सकता है कि "प्रकृति साधारण जनों के लिए बिखरी हुई, प्रसरित और विशृंखल सी है, परंतु कला में उसे संयम, मर्यादा तथा शृंखला मिलती है। प्रकृति की अनुभूति कोई एकांत अनुभूति नहीं होती पर कला की अनुभूति एकांत होती है, उसमें एक प्रकार की पूर्णता होती है जो साधारण दर्शकों को प्रकृति में नहीं देख पड़ती।" किंतु इतने से पूर्ण समाधान नहीं होता। सच तो यह है कि कलाकार संसार में जो सौंदर्य देखता है उसे फिर से देखने, सुनने या अनुभव करने की उसे इच्छा होती है इसके लिए वह सौंदर्य की सृष्टि करता है। यही सौंदर्य की सृष्टि कला है। पर इस सृष्टि के लिए सामग्री की आवश्यकता होती है जो उसे प्रकृति से मिलती है। वह अपनी कल्पना के बल पर उस उक्त सामग्री को अपने समक्ष रखता है और उससे एक ऐसी सृष्टि करता है जो प्रकृति-खंड का चित्र होते हुए भी उससे भिन्न होती है। अतः कलाकार की कृति प्रकृति का अनुकरण-मात्र नहीं है। हाँ, वह उससे इतनी विच्छिन्न भी नहीं है कि वह आकाश से टूटी हुई कोई अलौकिक या अपरिचित अथवा अद्भुत वस्तु बन जाय। जब कलाकार किसी बाग का चित्र खींचता है तो वह किसी बाग विशेष की अनुकृति उठाकर नहीं रख देता। पहले वह अपनी कल्पना द्वारा उन अनेक बागों का चित्र अपने सामने लाता है जिससे वह किसी न किसी प्रकार परिचित होता है; जो उसके संचित ज्ञान-भांडार की सामग्री होते हैं। उन बागों में बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हो सकती

हैं जो कम से कम उसकी दृष्टि से दोषपूर्ण, अनुचित अथवा अवांछित हों, कलाकार उन सबका त्याग करता जाता है और प्रत्येक बाग के वांछित उत्तमांश का संग्रह करता जाता है। इस प्रकार वह एक नए बाग की सृष्टि करता है। उसका यह विधान 'कलाकार की कल्पना का आदर्श-विधान करना' कहलाता है। इसी विधान के कारण कलाकार प्रकृति का आलोचक और स्रष्टा कहलाता है। जिसमें यह विधायक प्रतिभा नहीं, अनुकरण ही अनुकरण है वह सच्चा कलाकार नहीं। कलाकार में कल्पना की विधायक (Constructive) शक्ति की जितनी आवश्यकता है उतनी विनाशक (Distructive) शक्ति की भी। इन दो में से किसी के भी अभाव में कलाकार की कृति में कूड़ा-कर-कट आ जाना अवश्यंभावी है। हाँ तो, वह अपनी इस आदर्श विधायक कल्पना द्वारा भिन्न भिन्न प्रकृति-खंडों के दोषों को दूर करता, अभावों की पूर्ति करता और सामान्य रूपों एवं व्यापारों से सौंदर्य का विधान करता है। इस प्रकार उसका मस्तिष्क रूपों अथवा व्यापारों का एक चित्र उपस्थित करता है और यही चित्र वह कला द्वारा हमारे समक्ष रखता है; कोई वस्तु विशेष या व्यापार विशेष नहीं। सारांश यह कि कला द्वारा उपस्थित किया हुआ रूप अथवा व्यापार प्रकृति-खंड के दृश्यों या व्यापारों का अनुकरण होते हुए भी नवीन, मौलिक, विशिष्ट एवं पूर्ण होता है। इसीलिए पाश्चात्य देश के आचार्य अरस्तू साहब कला को प्रकृति का अनुकरण ही नहीं मानते, उसका पूरक भी मानते

हैं*। यहाँ तक तो डाक्टर ब्रैडले (Bradley) का यह कथन कि "उसकी (कला की) तो एक दुनिया ही निराली है—वह एकांग, स्वतः पूर्ण और स्वतंत्र है।" † समझ में आता है।

इस अर्थ में तो कला की सत्ता अवश्य स्वतंत्र है, उसकी दुनिया अवश्य निराली है। पर इसे अर्थवाद के रूप में न लेकर सिद्धांतवाद के रूप में लेना, उसे प्रत्यक्ष जगत् का न अंग समझना न अनुकृति, न उसे किसी काम का मानना, केवल हवाई बना डालना, इतर कलाओं के संबंध में चाहे बहुत अनुचित न हो किंतु काव्य के संबंध में अहितकर और अवांछनीय है। अन्य कलाओं में प्रायः अनुरंजन करने वाले सौंदर्य-विधान भर ही की आवश्यकता होती है, जगत् या जीवन की किसी वास्तविक दशा, स्थिति या तथ्य की नहीं। पर कविता, जगत् और जीवन से अलग नहीं की जा सकती। इसकी अनुभूति सौंदर्यानुभूति के ही रूप में नहीं होती, वह हृदय के भावों—प्रेम, करुणा, उत्साह इत्यादि को ले कर चलती है। भाव जगत् के परिचित

---

* The art besides imitating nature also completes nature's unfinished designs.

—Principles of Criticism

† ············its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world············but to be a world by itself, independent, complete, autonomous.

—Oxford Lectures on Peotry, p. 5

व्यक्ति या वस्तु के ही प्रति हो सकते हैं, किसी अपरिचित व्यक्ति के प्रति नहीं। यह दूसरी बात है कि वे प्रत्यक्ष जगत् से होते हुए परोक्ष जगत् की ओर उन्मुख हो जायँ। सारांश यह कि जहाँ भाव की स्थिति होगी वहाँ किसी न किसी रूप में दृश्य जगत् अवश्य होगा। अतः कविता को जगत् से अलग कहना आडंबर के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। उपादेयता की दृष्टि से देखें तो भी उसे हम जगत् और जीवन से अलग नहीं पाते। यदि कविता जीवन से अलग हुई होती तो मानव-समाज की वृत्तियाँ इतनी तीव्र और संस्कृत कदापि न होतीं। मानव-हृदय को परिष्कृत तथा उदात्त बनाने का श्रेय कलाओं को—विशेषतः कविता ही को है। अन्य देशों की बात नहीं कही जा सकती, पर भारत में कविता जीवन से भिन्न कभी नहीं रही। हमारे यहाँ साहित्य-शास्त्रियों ने काव्यगत आनंद को ब्रह्मानंद सहोदर कहकर अर्थवाद के रूप में उसकी स्वतंत्र सत्ता अवश्य स्वीकार कर ली है और, इस प्रकार कविता को 'कविता कविता के लिए' वाले सिद्धांत के समक्ष अवश्य ला दिया है। परंतु उन्होंने ब्रैडले (Bradley) या क्रोचे संप्रदाय की भाँति उसे खिलौना बना कर जीवन से अलग नहीं किया है। उन्होंने काव्यानंद (रस) को ब्रह्मानंद सहोदर इसलिए कहा है कि जिस प्रकार ब्रह्मानंद मनुष्य को उसके संकुचित व्यक्तिगत घेरे से ऊपर उठा देता है, वह दृश्य जगत् को अपने हानि-लाभ, सुख-दुःख इत्यादि की दृष्टि से नहीं देखता, अपनी व्यक्तिगत सत्ता को उसमें भुला देता है, उसी

प्रकार रसदशा में वह व्यक्तिगत घेरे से ऊपर उठ जाता है, उसकी अलग कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रह जाती। पर रसदशा में पहुँचने के लिए कविता से प्राप्त अनुभूति का सामंजस्य जीवन से प्राप्त सत्-असत् की भावना से अवश्य होना चाहिए। जहाँ पर सामंजस्य नहीं होता वहाँ रस की निष्पत्ति नहीं होती; अधिक से अधिक रसाभास हो जाता है। जो प्रेम-व्यंजना उपयुक्त आलंबन के संबंध से रसदशा तक पहुँचती है वही अनुपयुक्त आलंबन के संबंध से रसाभास तक ही रह जाती है। गुरु-पत्नी के साथ किसी शिष्य के प्रेम की व्यंजना चाहे जितनी उच्च हो पर वह रसावस्था तक कदापि नहीं पहुँचेगी; वह रसाभास तक ही रहेगी क्योंकि उस रति में अनौचित्य है। इस प्रकार रससंप्रदाय वालों ने कविता को जीवन से अलग नहीं माना है वस्तुतः (प्रसिद्ध समालोचक आचार्य पं० रामचंद्र जी शुक्ल के शब्दों में) कविता वह साधना है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के शुद्ध रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह तथा उसके हृदय का प्रसार और परिष्कार होता है। वह मनुष्य के हृदय की अनुभूति ही है जो मनुष्य के ही हृदय में पहुँचाई जाती है। अतः मनुष्य के साथ उसका संबंध नित्य है। मानव-जीवन से असंबद्ध उसका कुछ मूल्य नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से दूसरे प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट हो जाता है। सब प्रकार की अभिव्यंजना कला के अंतर्गत नहीं आ सकती, वही अभिव्यंजना कला के अंतर्गत आ सकती है

जिसमें कलाकार के मनोविकार का योग हो। जहाँ पर कलाकार की कल्पना काम नहीं करती वह कला के अंतर्गत नहीं आ सकती। अर्थबोध कराना मात्र कला का काम नहीं है। इस प्रकार दार्शनिक सिद्धांत, वैज्ञानिक श्रेणी-विभाग, नियम-निरूपण इत्यादि कला के क्षेत्र के बाहर की वस्तुएँ हैं, यद्यपि उक्त सब बातें इस प्रकार सजा कर रखी जा सकती हैं जिसमें कला के लक्षण हों। इस प्रकार कला का क्षेत्र अपरिमित हो जाता है, पर उसके इस अपरिमित क्षेत्र के कारण कविता को कला के अंतर्गत मानना उचित नहीं है। कविता का क्षेत्र कला से अधिक विस्तृत है। जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है प्रेषण-पद्धति (अभि-व्यंजना) ही कविता का कलापक्ष ठहरती है। पर प्रेषण-पद्धति काव्य का साधन मात्र है, साध्य नहीं। अतएव कला भी कविता का साधन हुई। उसे साध्य मान बैठना, अप्रस्तुत-विधान में ही कविकर्म की सफलता समझना कविता के क्षेत्र को संकुचित करना है। इस धारणा से कविता केवल कौतूहल का विषय रह जाती है जिससे अनुरंजन-मात्र हो सकता है; स्थायी प्रभाव या संस्कार की आशा नहीं की जा सकती। अस्तु, कला की काव्य में उतनी ही आवश्यकता है जितने से कवि की उपर्युक्त दोनों भाव-नाएँ (भावोद्दीपन करना और कृति में सौंदर्य-विधान करना) सफल होती हैं।

कला का विवेचन हमारे यहाँ प्रधानतः शब्द-शक्ति, अलंकार, वृत्त (संगीत-विधान) और वृत्ति द्वारा होता है। अतः इन्हीं

चारों आधारों को लेकर यहाँ हिंदी की प्राचीन और नवीन कविता पर विचार किया जायगा।

प्राचीन और नवीन कविता में शव्दशक्ति

सवसे पहले शव्द-शक्ति को लीजिए। प्रस्तुत पुस्तक में इसका शास्त्रीय विवेचन संभव नहीं, इस संवंध में यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि काव्य में जो शव्द प्रयुक्त होते हैं वे तीन प्रकार के माने गए हैं—(१) वाचक, (२) लक्षक और (३) व्यंजक। इनसे तीन प्रकार के अर्थ निकलते हैं जिन्हें क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कहते हैं। इन अर्थों का ज्ञान कराने वाली तीन शक्तियाँ होती हैं जिनका नाम क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना है।* भाव-व्यंजना के लिए

---

* शब्द के सुनते ही जिस अर्थ का बोध होता है उसे वाच्यार्थ, जिस शक्ति के द्वारा यह प्रथम अर्थ (Primary Meaning) ज्ञात होता है उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। सव वस्तुओं का ग्रहण इसी शक्ति द्वारा होता है। वाच्यार्थ का वाध होने पर उससे (मुख्यार्थ से) संवद्ध जिस दूसरे अर्थ का ज्ञान होता है उसे लक्ष्यार्थ और जिस शक्ति के द्वारा इसका बोध होता है उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं। अभिधा वृत्ति के विरत हो जाने पर (जो कुछ अर्थ निकलता हो, निकल जाने पर) यदि लक्षणावृत्ति से भी कोई अर्थ न निकले तो तीसरी शक्ति व्यंजना का सहारा लिया जाता है और जिस अर्थ का बोध होता है उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। यह शक्ति शब्द में, अर्थ में यहाँ तक कि प्रत्यय और उपसर्ग तक में होती है।

जब अभिधा से काम चलता दिखाई नहीं देता या जब कोई चमत्कार दिखाना कवि को अभीष्ट होता है तब वह लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग करता है। इस प्रयोग से वस्तुओं के मूर्त प्रत्यक्षीकरण में सहायता तो मिलती ही है साथ ही भाषा में भी व्यंजकता आ जाती है और एक प्रकार का आनंद भी मिल जाता है। यही लाक्षणिकता वर्तमान कविता की सबसे बड़ी विशेषता है। इसका यह अर्थ नहीं कि पुराने समय में इसका प्रयोग होता ही नहीं था। 'अरसानि गही उहि बान कछू सरसानि सों आनि निहोरत है', 'कूकभरी मूकता', 'उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखौ' इत्यादि प्रयोग प्राचीन कविता में भी मिलते हैं पर इस प्रकार के प्रयोगों की प्रचुरता जितनी नवीन कविता में है, पुरानी में न थी। आज की कविता में पागल के से मनोभाव रखने वाले के लिए 'सिड़ी के गूढ़ हुलास', पूर्ण विकसित वेदना के लिए 'सुप्त व्यथा का जगना' इत्यादि प्रयोग भरे पड़े रहते हैं। कहना चाहें तो यहाँ तक कह सकते हैं कि नवीन कविता में इन्हीं का प्राबल्य रहता है। जहाँ तक यह अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार चलती है वहाँ तक तो यह बहुत ही सुंदर बन पड़ती है; पर जहाँ ऐसा नहीं होता ये लाक्षणिक प्रयोग अजायबघर की वस्तु बन जाते हैं। जिस प्रकार सब बातों में अँगरेजी की नकल की जाती है उसी प्रकार भाषा में भी। वर्तमान कविता में बहुत से ऐसे प्रयोग मिलेंगे जो हिंदी की अभिव्यंजना से मेल नहीं खाते। उदाहरण के लिए पंत जी का निम्नलिखित पद ले लीजिए—

"गरज गगन के गान गरज गंभीर स्वरों में
भर अपना संदेश उरों में औ अधरों में।"

उत्तरार्ध से कवि का अभिप्राय है कि हृदय में करुणा के दिव्य संगीत भर जाएँ और मुँह से वे व्यक्त भी हों। अब यह 'अधरों में' का प्रयोग 'ओठ खोलने' (to open lips) से मेल खाता है हिंदी-प्रयोग 'कंठ फूटने' या 'मुँह खोलने' से नहीं। किंतु यहाँ तक गनीमत है। 'विचारों में बच्चों की साँस' और 'मेरे जीवन के अंतिम पाहन', 'जीवन का पहला पृष्ठ' इत्यादि केवल हिंदी के भरोसे रहने वालों के लिए तो कृत्रिम रहस्यवादी कविता ही हैं। 'चूम मौन कलियों का मान' वही समझेगा जो 'किस्ड अवे' (kissed away) का अर्थ जानता होगा। इतना ही नहीं बहुत से प्रयोग तो ऐसे होते हैं जिन्हें हिंदी और अँगरेजी दोनों पर पूरा दावा रखने वाले भी कठिनाई से समझ पाते हैं। 'विटप-बालिका' (पक्षी) और 'सलिल-बालिका' (लहर) इसी प्रकार के प्रयोग हैं।

कुछ भी हो इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि व्यंजकता की वृद्धि में नवीन कवियों का बहुत बड़ा हाथ है।

अलंकारों पर विचार करने के पूर्व उनके आधार पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि कवियों के अलंकार-विधान पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि अधिकांश अलंकारों का आधार साम्य है साम्य का चमत्कार दिखाने के लिए कभी कभी तो सदृश शब्दों या सदृश वाक्यों को ही लेकर

प्राचीन और नवीन कविता में अलंकार-विधान

अलंकारों की योजना कर ली जाती है। पर इस प्रकार के अलंकारों का काव्य में विशेष महत्त्व नहीं है। इनके द्वारा काव्य में एक प्रकार का चमत्कार आ जाता है जिससे चमत्कृत हो कर हम कवि की कारीगरी पर थोड़ी देर के लिए मुग्ध हो जाते हैं, हमारे हृदय में आनंदानुभूति का उद्रेक हो जाता है पर वह न तो गंभीर होता है न स्थायी। किंतु जो अलंकार-विधान स्वरूप और धर्म के साम्य को लेकर चलता है वह अवश्य बहुत काव्योचित होता है। परंतु यहाँ भी एक सावधानी की आवश्यकता होती है। कविता का लक्ष्य केवल वस्तु-बोध कराना ही नहीं है वरन् भावोत्कर्ष कराना भी है। अतः यदि साम्य किसी वस्तु की जानकारी कराने भर के लिए न हुआ, प्रस्तुत भावना विशेष को जगाने वाला हुआ तो उस साम्य का मूल्य काव्य में बढ़ जाता है। इस प्रकार अलंकार-विधान में प्रभाव-साम्य सबसे महत्त्वपूर्ण बात ठहरती है।

प्राचीन हिंदी-कविता में प्रायः सभी साम्यों को लेकर कविता की गई है। शब्दों के साम्य पर यदि किसी को कारीगरी देखना अभीष्ट हो तो वह केशव की 'रामचंद्रिका' उठा कर देख ले। पृष्ठ पृष्ठ पर शब्दों की कारीगरी भरी पड़ी है। कहीं 'श्लेष' अपनी छटा दिखलाता है तो कहीं पर 'यमक'। कहीं 'परिसंख्या' की बहार है तो कहीं 'विरोध' की। कहाँ तक कहें सब जगह शब्द-चमत्कार ही तो है। पर सौभाग्यवश इस प्रकार के पंडित-

कवि बहुत कम हुए। अधिक संख्या उन्हीं की रही जो चमत्कार को कविता में दूसरा स्थान देते हैं। बिहारी ऐसे कुछ कवि रीति-काल में ऐसे भी दिखाई देते हैं जो भावोत्कर्ष की ओर थोड़ा-बहुत ध्यान तो रखते ही हैं पर चमत्कार को भी नहीं छोड़ सकते। इनकी कविता दो भागों में स्पष्ट बाँटी जा सकती है—इनके कुछ दोहे ऐसे हैं जो चमत्कार ही दिखलाने के लिए लिखे गए हैं और कुछ ऐसे हैं जिनमें रसानुभूति की ओर दृष्टि है—

"तो पर वारौं उरवसी, सुनु राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी - समान॥"

—बिहारी

में 'उरवसी' के चमत्कार के अतिरिक्त और क्या है? पर निम्नलिखित दोहे में चमत्कार की प्रधानता नहीं, रस की है—

"लटपटाति सी ससिमुखी मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखे झाँकि॥"

—बिहारी

इस प्रकार कुछ कवियों में चमत्कार दिखलाने वाली रचना अलग अलग हो गई है। पर जो कवि-कर्म को खिलवाड़ नहीं समझते, जो अपनी काव्य-प्रतिभा का अपव्यय दूर की कौड़ी लाने में नहीं करते, जो भावोद्रेक द्वारा परिचालित अंतर्वृत्ति के अनुरूप अप्रस्तुत-विधान सामने लाते हैं वे चमत्कार का उपयोग भावोत्कर्ष में ही करते आए हैं, उन्होंने केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए अलग छंदों की रचना नहीं की है—

"निरखत अंक स्यामसुंदर के बार बार लावत छाती
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती"

—सूरदास

कुछ भी हो इतना तो मानना ही पड़ता है कि पुराने कवियों की दृष्टि चमत्कार की ओर थोड़ी-बहुत अवश्य थी। जो और कुछ नहीं करते थे वे अनुप्रासों की छटा दिखाए बिना नहीं रहते थे। वर्णों और शब्दों के उपयोग से ही नहीं, अनुमान के बल पर भी कवि बहुत दूर की कहते थे—

'पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास'

ऐसे अनुमानाश्रित उदाहरणों की कमी प्राचीन कविता में नहीं है। पर नवीन कवियों में अप्रस्तुत-योजना की प्रधानता होते हुए भी शुष्क चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती। उनमें शब्द-चमत्कार वाले अलंकार—यमक, श्लेष इत्यादि—मिलते अवश्य हैं, पर वे खिलवाड़ का रूप धारण नहीं करते। यमक और श्लेष के उदाहरण लीजिए—

"घूमता है संमुख वह रूप
सुदर्शन हुए सुदर्शन चक्र
× × ×
तरणि ही के संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में"

—पंत

"जीवन की जटिल समस्या
है बढ़ी जटा सी कैसी
उड़ती है धूल हृदय में
किसकी विभूति है ऐसी ?"

—प्रसाद

अब लीजिए सादृश्य और साधर्म्यमूलक अलंकार। इन पर विचार करने के पूर्व इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक है कि वर्तमान युग अभिव्यंजनावाद का है जिसके अनुसार कविता में अप्रस्तुत ही सब कुछ है। अतः नई रंगत के अधिकांश कवि साम्य (Analogy) के बिना चलते ही नहीं। बाहरी रूप-व्यापारों तथा अंतर्वृत्तियों दोनों की अभिव्यक्ति अनेक अप्रस्तुत वस्तुओं द्वारा करते हैं, कभी उपमा-रूपक की पद्धति पर अप्रस्तुतों के साथ समन्वित रूप में—

"इस हृदय कमल का खिलना
अलि-अलकों की उलझन में"

—प्रसाद

कभी रूपकातिशयोक्ति की पद्धति पर केवल अप्रस्तुतों द्वारा—

"जब शांत मिलन संध्या को
हम हेमजाल पहचाने
काली चादर के स्तर का
खुलना न देखने पाते"

—प्रसाद

अथवा लक्षणा के बल पर अप्रस्तुतों के किसी व्यापार-मात्र द्वारा जैसे—

"अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भींगी पलकों का लगना।"

—प्रसाद

इनमें से प्रथम दो प्रकार का विधान तो पुरानी कविता में भी बहुत मिलता है, पर तीसरे प्रकार का विधान नवीन कविता की विशेषता है, पुराने कवियों में ढूँढ़ने से ही मिलता है।

प्राचीन और नवीन कवियों में चाहे जो भी अंतर हो पर अप्रस्तुतों का व्यवहार साम्य के आधार, पर जैसा पहले कहा जा चुका है, सदा से होता आया है। यह साम्य भारतीय आचार्यों ने तीन प्रकार का माना है—(१) सादृश्य (रूप या आकार की समानता), (२) साधर्म्य (गुण या क्रिया की समानता) तथा (३) केवल शब्दसाम्य। इनमें से शब्दसाम्य पर पहले विचार किया जा चुका है। रहे सादृश्य और साधर्म्य। विचार करने पर इन दोनों के भीतर भी एक साम्य छिपा मिलेगा और वह है प्रभाव-साम्य। कहना न होगा कि प्रभाव-साम्य को लेकर अप्रस्तुत-योजना काव्य की अत्यंत उत्कृष्ट पद्धति है। जहाँ पर प्रभाव-साम्य पर दृष्टि नहीं रहती वहाँ की अप्रस्तुत-योजना काव्योपयोगी नहीं होती। प्राचीन काल की कविता में दोनों प्रकार का

साम्य बराबर मिलता है, पर कवियों की दृष्टि प्रभाव-साम्य की ओर उतनी नहीं रहती थी। हाँ, सादृश्य और साधर्म्य के कारण प्रभाव-साम्य आ ही जाता था। कहीं कहीं तो इसकी उपेक्षा गोस्वामीजी इत्यादि महाकवियों से भी हो जाती थी—

"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं
जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं

× × × ×

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहिं राम॥"

—गो० तुलसीदास

"हरि कर राजत माखन रोटी
मनो वराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी"

—म० सूरदास

नवीन कवि सादृश्य और साधर्म्य की बड़ी परवा नहीं करते; उनकी दृष्टि प्रभाव-साम्य की ओर अधिक रहती है। सादृश्य और साधर्म्य अत्यंत अल्प या कभी कभी न रहने पर भी प्रभाव-साम्य लेकर अप्रस्तुत की योजना कर दी जाती है। ऐसे अप्रस्तुत प्राय: प्रतीकवत् (Symbolic) होते हैं। जैसे सुख के व्यंजक ऊषा, चंद्रिका, विषाद या अवसाद के व्यंजक अंधकार, छाया, अँधेरी रात इत्यादि—

"छिपरे सोते थे मन में
सुख-दुख दोनों ही ऐसे

चंद्रिका - अँधेरी मिलती
मालती - कुंज में जैसे"

—प्रसाद

यहाँ सुख और दुःख के क्रमशः उपमान रखे गए हैं—चंद्रिका और अँधेरी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साम्य प्रभाव को लेकर ही किया गया है। चंद्रिका का प्रभाव है आह्लाद-कारक और अंधकार का खिन्नता या उदासी लाने वाला। इस प्रकार के सार्वभौमिक प्रतीक (Universal Symbol) कविता के बड़े काम के होते हैं। इससे भाषा की व्यंजकता बढ़ जाती है। पर वर्तमान कविता में सार्वभौमिक प्रतीक ही नहीं, देशगत प्रतीक भी काम में लाए जाते हैं—

"झंझा - झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरद - माला
पा कर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला"

—'आँसू' से

यहाँ पर हृदय के अत्यंत गहरे क्षोभ के लिए झंझा-झकोर आया है और हर्ष के लिए नीरद-माला। भारत में ग्रीष्म दुःखद माना जाता है पर यूरोप में सुखद। इसी प्रकार भारत में बादल जीवन-दाता कहा जाता है, पर यूरोप में यह विपत्ति का प्रतीक है। यहाँ तक ठीक है। इस प्रकार के प्रतीक (कम से कम देश-ज्ञान रखने वालों की) समझ में आ जाते हैं। पर जहाँ व्यक्तिगत

प्रतीक (Individual Symbol) प्रयुक्त होते हैं वहाँ कविता दुरूह हो जाती है। यदि कोई बिल्ली देख कर डर जाय इसलिए वह उसे भयंकरता का प्रतीक बना डाले तो इससे अर्थ समझने में कठिनाई होना अवश्यंभावी है। अस्तु, प्रभाव-साम्य को लेकर नवीन अप्रस्तुत-योजना काव्य की उत्कृष्ट पद्धति है सही, पर इस प्रकार की नवीन योजना करने के लिए प्रभाव को ठीक ठीक ग्रहण करने वाला प्रतिनिधि-हृदय चाहिए। प्रभाव भी ऐसा होना चाहिए जिसे थोड़ा-बहुत सबका हृदय ग्रहण करे।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह न समझना चाहिए कि नवीन कविता के अलंकार-विधान में प्रभाव-साम्य ही प्रभाव-साम्य है। सूर ने रोटी को पृथ्वी बनाया है तो पंत ने तारा को 'शुचि उलूक' * कहकर संबोधित किया है। इतना ही नहीं 'विशाल अंबर'† को विहंगम भी बनाया है—'स्याही का बूँद' तो और भी विचित्र है। देखिए—

"... ... ...
अचानक यह स्याही का बूँद
लेखनी से गिर कर सुकुमार

---

* इंदु-दीप से दग्ध शलभ शिशु !
शुचि उलूक ! अब हुआ विहान
... ...

† विहंगम सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अंबर।

गोल-तारा-सा नभ से कूद
सजनि! आया है मेरे पास"

इतना ही नहीं, अप्रस्तुत-योजना करते समय आजकल कवि कहीं कहीं इसकी भी परवा नहीं करते कि उनका चित्र सच्चा उतर रहा है अथवा नहीं? एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी—

"नयन-नीलिमा के लघु नभ में
अलि! किस सुखमा का संसार
विरल इंद्रधनुषी बादल सा
बदल रहा निज रूप अपार"

—पंत

यहाँ 'नयन-नीलिमा' (पुतलियाँ) को 'लघु नभ' बना तो डाला, पर इस बात को भूल गए कि स्वप्न मन से देखे जाते हैं, पुतलियों से नहीं।

जिस प्रकार प्राचीन कविता में रूपक की शृंखला दूर तक चलती थी उस प्रकार के रूपक तो आजकल की कविता में नहीं मिलते, पर दूर तक चलने वाले व्यंग्य रूपक बराबर दिखाई पड़ते हैं जिनमें दो-दो तीन-तीन उपमानों का गुंफन दूर तक चलता रहता है—

"सजा सुमनों के सौरभ-हार
गूँथते थे उपहार;
अभी तो हैं ये नवल प्रवाल,
नहीं छूटी तरु डाल;

विश्व पर विस्मित-चितवन डाल
हिलाते अधर प्रवाल!

न पत्रों का मर्मर-संगीत,
न पुष्पों का रस, राग, पराग
एक स्फुट, अस्पष्ट, अगीत,
सुप्ति की ये स्वप्निल मुसकान
सरल शिशुओं के शुचि अनुराग
वन्य विहगों के गान

—पंत

इन दो पद्यों में ही नहीं 'पल्लव' शीर्षक पूरी कविता भाव के साथ कोमल पत्तों और वालक का लंवा साम्य (analogy) चलता है। एक अप्रस्तुत के लिए अनेक अप्रस्तुत लाना अनुचित नहीं, पर जहाँ एक अप्रस्तुत के लिए एक और अप्रस्तुत की योजना की जाती है वहाँ कविता में दुर्वोधता आ जाती है। जैसे—

"अरुण कलियों से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय"

—पंत

में घाव स्वयं अप्रस्तुत है—वेदना के लिए आया है। इस अप्रस्तुत का भी उपमान 'अरुण कलियाँ' रखा गया है। पर पद्य पढ़ने से घाव अप्रस्तुत नहीं प्रस्तुत प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नवीन कविता में भी अलंकारों का त्याग नहीं हुआ है। यह बात दूसरी है कि पहले उत्प्रेक्षा, उपमा इत्यादि सांगोपांग रहती थीं और आजकल प्रतीकों के बल पर चलने वाली अन्योक्तियाँ या रूपकातिशयोक्तियों की विशेष प्रवृत्ति हो। पर देखना यह चाहिए कि नवीन कविता में अप्रस्तुत-विधान के लिए दृश्य जगत् की कितनी सहायता ली जाती है।

यों तो नई रंगत के कवि की कल्पना और कविता को अलौकिक कहा जाता है, पर यथार्थतः जिन प्राकृतिक दृश्यों और व्यापारों द्वारा आजकल के कवि अपने भावों की व्यंजना करते हैं वे सब इसी जगत् और जीवन के हैं। नवीन कविता में अधिकतर वे ही रूप और व्यापार हैं जिनका प्रयोग कवि-परंपरा करती आई है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, इंद्रधनुष, उषा, प्रभात, संध्या, समुद्र-तरंग, चातक इत्यादि कविता में आदिकवि के समय से चले आ रहे हैं। इसी प्रकार स्वाती के मेघों के प्रति चातक का प्रेम, भौंरो का फूलों को घेरना, समुद्र का पूर्णचंद्र की ओर लपकना इत्यादि कविगण सदा से देखते आए हैं। इन्हीं सब वस्तुओं का प्रयोग आज भी होता है। हाँ, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, पहले के कवि अधिकतर दूसरों पर ही निर्भर रहते थे, अपनी देखी बात बहुत कम करते थे, पर आजकल के कवि स्वतंत्र निरीक्षण भी करते हैं—

"जल उठा स्नेह दीपक सा,
नवनीत हृदय था मेरा।
अब शेष धूमरेखा से,
चित्रित कर रहा अँधेरा॥"

—प्रसाद

किंतु अधिकतर परिचित रूपों और व्यापारों को लेकर ही उनकी ऐसी योजना करते हैं कि उनमें नवीन व्यंजकता आ जाती है—

"कुसुमाकर रजनी के जो,
पिछले पहरों में खिलता।
उस मृदुल शिरीष सुमन सा,
मैं प्रात धूल में मिलता॥"

—प्रसाद

इस प्रकार की कुछ योजनाएँ तो प्राचीन पद्धति से अथवा उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन करने से नवीन कविता में आईं; कुछ ऐसी भी योजनाएँ मिलेंगी जो सीधे अँगरेजी से ली गई हैं, इनका मुख्य आधार लक्षणा है। इनके बल पर बहुत सुंदर अप्रस्तुत-विधान होता है। इससे अगोचर भावों को गोचर मूर्त रूप तो मिलता ही है साथ ही प्रभाव पर भी जोर पड़ता है। पर जहाँ लक्षणा जटिल हो जाती है वहाँ कविता में बड़ी दुर्बोधता आ जाती है। एक उदाहरण लीजिए—

"गूढ़ कल्पना-सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय सी।

ऋषियों के गंभीर हृदय सी,
बच्चों के तुतले भय सी।"

—'पल्लव' से

'बच्चों के तुतले भय सी' का अर्थ तब तक समझ में नहीं आ सकता जब तक 'भय' का लक्ष्यार्थ 'भय का कारण' और 'तुतले भय' का लक्ष्यार्थ 'तुतली बोली में व्यंजित भय' न लिया जाय। जब इस दुहरी लक्षणा से काम लिया जायगा तब कहीं पद्यांश का प्रकृत अर्थ 'तुम बच्चे के उस भय के समान हो जिसे वह अपनी तुतली बोली में व्यक्त करता है' मिलेगा। अँगरेजी से नवीन कविता में लिए गए अलंकारों में से प्रधान हैं—नर-रूपक (Personification) और विशेषण-विपर्यय। इस प्रकार का अप्रस्तुत-विधान हिंदी की प्राचीन कविता में ढूँढ़ने से ही मिलेगा। पर नवीन कविता में 'कैसी हिलती डुलती अभिलाषा है कली तुझे खिलने की', 'आह यह मेरा गीला गान', 'बच्चों के तुतले भय सी' इत्यादि की भाँति विशेषण-विपर्यय के उदाहरण स्थान स्थान पर मिलेंगे। इसी प्रकार—

"श्रुति पर लेकर पूर्वस्मृतियाँ, खड़ी यहाँ पट खोल।
देख आप ही अरुण हुए हैं इनके पांडु कपोल॥"

— मैथिलीशरण गुप्त

"छपी सी पी सी मृदु मुसकान,
छिपी सी खिंची सखी सी साथ।

उसी की उपमा सी बन, मान ,
गिरा का धरती थी, धर हाथ ॥"

—पंत

से नर-रूपकों (Personification) की भी कमी नहीं है। पर स्मृतियों के कपोल पीले या लाल करना अथवा हँसी की सखी बना कर सहेली का हाथ पकड़वाना इत्यादि कितनी सामान्य भावभूमि पर हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं। अँगरेजी का प्रतीकवत् (Symbolic) ग्रहण भी आजकल की कविता में खूब मिला करता है। 'विचारों में बच्चों की साँस', 'मेरे जीवन के अंतिम पाहन' इत्यादि प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

नवीन अलंकार-विधान के संबंध में एक बात और ध्यान देने की है। यों तो कवि के लिए कोई बंधन नहीं है, चाहे वह अमूर्त (Abstract) पदार्थों का उपमान मूर्त (Concrete) रखें और चाहे मूर्त का अमूर्त। पर प्राचीन कवियों में प्रायः पहली बात पाई जाती है। हृदय को भवन और काम, क्रोध, मद, लोभ इत्यादि को चोर अथवा काम को अग्नि और विषय-भोग को घी के रूप में कवि-परंपरा बराबर दिखलाती चली आई है—

"मम हृदय भवन प्रभु तोरा।
तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
... ...
तम मोह, लोभ, अहँकारा।
मद, क्रोध बोध रिपु मारा॥

अति करहिं उपद्रव नाथा।
मरदहिं मोहिं जानि अनाथा॥
मैं एक, अमित बटपारा।
कोउ सुनै न मोर पुकारा॥
... ...
कह तुलसिदास सुनु रामा।
लूटहिं तसकर तव धामा।
... ...
बुझै न काम अगिन तुलसी कहुँ,
विषय-भोग बहु घी तें।"

—गो० तुलसीदास

किंतु आजकल के कवि मूर्त पदार्थों के भी अमूर्त उपमान रखा करते हैं—

... ...
"गिरवर के उर से उठ कर
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर"

—पंत

"कामना कला सी विकसी कमनीय मूर्ति थी तेरी"

—प्रसाद

अँगरेजी के अतिरिक्त कहीं कहीं फारसी शायरी की कुछ सामग्री—शराब, प्याला इत्यादि भी मिलती है—

"काली आँखों में कितनी
यौवन के मद की लाली
मानिक - मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली ?"

—प्रसाद

"सुमुखि तुम्हारा सुंदर मुख ही
माणिक - मदिरा का प्याला
छलक रही है जिसमें छल छल
रूप - मधुर मादक हाला"

—बच्चन

आजकल के कवि कभी कभी किसी भाव या वस्तु की व्यंजना सीधे सीधे न करके व्यापारों का एक चित्र खड़ा करके किया करते हैं। देखिए निष्ठुरता की कैसी सुंदर व्यंजना की गई है—

"रो रो कर सिसक सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी,
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।"

—प्रसाद

उपर्युक्त विवेचन से यह भ्रम न करना चाहिए कि नवीन कविता में प्राचीन पद्धति का सर्वथा त्याग है, उसमें नवीनता ही नवीनता है। पहले यह दिखलाया जा चुका है कि आजकल

के कवियों की कल्पना प्रकृति के अनंत क्षेत्र में नए नए व्यापारों और रूपों की छानबीन करने में नहीं लगती; वह काव्य-परंपरा में परिचित रूप-व्यापारों को ही अधिकतर लेकर उनकी इस नूतन ढंग से योजना करती है और उन्हें ऐसे तथ्यों की समता में रखती है कि उनमें नई व्यंजकता आ जाती है। कहीं कहीं कवि अँगरेजी या फारसी कविता की अप्रस्तुत-योजना का आधार लेकर या हिंदी में ज्यों का त्यों उनका अनुवाद करके हिंदी-कविता में नवीनता ला देते हैं। पर कहीं कहीं पुराने ढंग की योजना भी बराबर मिलती है। दो-एक उदाहरण देकर यह प्रकरण यहीं पर समाप्त किया जाता है—

"विद्रुम सीपी - संपुट में
मोती के दाने कैसे?
है हंस न, शुक यह फिर क्यों
चुगने को मुक्ता ऐसे?"

—प्रसाद

"द्विरद-दंतों से उठ कर,
सुन्दर कर-सीकर से बढ़ कर,
भूति-से शोभित बिखर बिखर
फैल फिर कटि के से परिकर
बदल यों विविध वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गजवर"

—पंत

अब थोड़ा सा विचार छंदों पर कर लेना चाहिए। कविता में छंदों का उपयोग नाद-सौंदर्य उत्पन्न करने के लिए होता है। कविता और संगीत का संबंध आदिकाल से चला आ रहा है। यह कविता का इतना आवश्यक अंग है कि एक अँगरेज समालोचक कविता और संगीत में विशेष अंतर नहीं मानता। उसका कहना है कि संगीत कविता का जनक और उसका एक अंग है।* छंदोबद्ध रचना कर्ण-सुखद ही नहीं होती भावोन्मेष भी करती है। इसका प्रमाण यही है कि मरसिया का अर्थ हम समझें या न समझें किंतु हमें शोक की अनुभूति होती ही है। इसी प्रकार आल्हा के सुने हुए स्फुट शब्द हममें थोड़ी देर के लिए वीर भावना जागरित कर ही देते हैं। मालिनी, हरिगीतिका, पीयूषवर्षण, रूपमाला और सखी छंदों से दीनता, कातरता और उद्विग्नता टपकती सी रहती है। इतना ही नहीं, जब हम भावोन्मेष में होते हैं तो संभवतः हमारे मुख से लययुक्त वचनावली निकलती ही है। इससे सिद्ध होता है कि संगीत और भावों का कुछ नैसर्गिक संबंध है। भावों का संबंध कविता से है अतः संगीत कविता का एक आवश्यक अंग ठहरता है।

वृत्त

नाद-तत्त्व की रक्षा करने के लिए साहित्य-शास्त्र में छंदों का

---

* Poetry was born of music and is a form of music.

—E. A. Greening Lamborn

विधान किया गया है। छंद मुख्यतः दो बातों पर चलते हैं—(१) लय और (२) तुक। हिंदी-कविता में लय के लिए गिने हुए वर्ण अथवा मात्राएँ रखी जाती हैं। जहाँ पर लय वर्णों पर निर्भर रहती है उसे वर्णिक छंद या वर्णवृत्त कहते हैं और जहाँ पर मात्राओं पर निर्भर रहती है उसे मात्रिक छंद या जाति कहते हैं।

हमारी प्राचीन हिंदी-कविता में दोनों प्रकार के छंद पाए जाते हैं। पर व्रजभाषा में अधिकतर कवित्त-सवैया ही लिखे गए हैं। हाँ, कृष्ण-काव्य गीतों में बना। अवधी भाषा में दोहों-चौपाइयों का प्रयोग किया गया है। भारतेंदु काल परिवर्तन काल था। उस समय जहाँ अनेक प्रकार के परिवर्तन दिखाई पड़े वहाँ छंद के संबंध में भी लोगों की प्रवृत्ति बदली। कुछ दिन रोला का चलन अधिक रहा। हिंदी-छंदों के साथ खड़ी बोली में उर्दू के छंद भी प्रयोग में आने लगे। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने स्वयं उर्दू बहरों में रचना की। उर्दू-साहित्य में खड़ी बोली फारसी की बहरों में पहले ही ढल चुकी थी इससे खड़ी बोली के लिए कुछ लोगों ने उर्दू के छंद ही उपयुक्त समझे। हरिऔधजी की प्रारंभिक कविताएँ उर्दू-छंद ले कर ही उठीं। इसके अनंतर द्विवेदी काल में लोगों की प्रवृत्ति संस्कृत की ओर गई। संस्कृत समास-संधि-बहुला और विभक्ति-प्रधान भाषा है। अतः संस्कृत-गर्भित भाषा के लिए वर्णिक छंद ही अधिक उपयुक्त हो सकते हैं। उसके नाद-सौंदर्य की रक्षा वर्णवृत्त में ही हो सकती है। अतः हिंदी में तत्सम शब्दों की प्रचुरता के साथ साथ संस्कृत-छंदों की

भी अधिकता होने लगी। उपाध्याय जी के 'प्रिय-प्रवास' में यह प्रवृत्ति भी सीमा तक पहुँच गई। पर यह प्रवृत्ति हिंदी के अनुकूल न थी। उसके नाद-सौंदर्य की स्वाभाविकता जितनी मात्रिक छंदों में दिखलाई पड़ती है उतनी वर्णवृत्तों में नहीं। संस्कृत के संयुक्ताक्षर के पूर्व वाले अक्षर को जिस प्रकार गुरु पढ़ा जाता है उसी प्रकार यदि हिंदी में भी उच्चारण किया जाय तो वह भद्दा दिखलाई देता है। अतः प्रसाद-काल में लोगों की रुचि मात्रिक छंदों की ओर गई। वह यहीं तक परिमित न रही वरन् स्वच्छंदता की ओर उन्मुख हो गई—नए नए छंद लिखे जाने लगे। यहाँ तक कि छंद-विहीन कविता भी लिखी जाने लगी, साथ ही पुराने छंदों में भी कुछ उलट-फेर होने लगा। * निराला जी ने 'रबड़ छंद' लिखे, 'पंचवटी प्रसंग' में छंद ढूंढ़ना असंभव है। उदाहरण लीजिए—

कितना सुबोध है!
आज्ञापालन के सिवा कुछ भी नहीं जानता है
आता है सामने तो सिर झुका
दृष्टि चरणों की ओर रखता है
कहता है बालक इव—'क्या है आदेश माता?'

—निराला

---

* देखिए श्रीरामाज्ञा द्विवेदी कृत 'सौरभ' जिसमें कवित्त के चार चरणों के स्थान में छः चरण हो गए हैं।

किंतु संतोष इस बात पर है कि इस प्रवृत्ति ने जोर नहीं पकड़ा। यदि इस प्रवृत्ति का अनुसरण किया जाता तो कविता में अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता नष्ट हो जाती * जो प्राचीन कविता की एक विशेषता है। अस्तु, नए छंदों का विधान श्लाघ्य होते हुए भी छंद-विहीन कविता उचित नहीं कही जा सकती।

प्राचीन कविता में छंद के चरणों की योजना इस प्रकार होती

---

* "...छंद वास्तव में बँधी हुई लय के भिन्न भिन्न ढाँचों (Patterns) का योग है जो निर्दिष्ट लंबाई का होता है। लय-स्वर के चढ़ाव-उतार छोटे-छोटे ढाँचे ही हैं जो किसी छंद के चरण के भीतर व्यस्त रहते हैं।

छंद द्वारा होता यह है कि इन ढाँचों की मिति और इनके योग की मिति दोनों श्रोता को ज्ञात हो जाती है जिससे वह भीतर ही भीतर पढ़ने वाले के साथ ही साथ उसकी नाद की गति में योग देता चलता है। गाना सुनने के शौकीन गवैये के मुँह से किसी पद के पूरे होते होते उसे किस प्रकार लोक लेते हैं, यह बराबर देखा जाता है। लय तथा लय के योग की मिति बिलकुल अज्ञात रहने से यह बात नहीं हो सकती। जब तक कवि आप ही गा कर अपनी लय का ठीक ठीक पता न देगा तब तक पाठक अपने मन में उसका ठीक ठीक अनुसरण न कर सकेगा। अतः छंद के बंधन के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता (Communicability of sound impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है।"

—'काव्य में रहस्यवाद' से

थी कि एक चरण में एक विचार (Idea) आ जाय। पर आजकल की कविताओं में वाक्य चरण के बीच में भी पूरे हो जाते हैं—

"यह अमूल्य मोती का साज,
इन सुवर्णमय, सरस परों में
शुचि-स्वभाव से भरे सरों में
तुझको पहना जगत देख ले;—यह स्वर्गीय-प्रकाश !
मंद, विद्युत-सा हँस कर"

—पंत

"तो बचने के लिए शत्रु के सामने,
पीठ करोगे ? नहीं, कभी ऐसा नहीं
दृढ़प्रतिज्ञ यह हृदय, तुम्हारी ढाल बन
तुम्हें बचावेगा। इस पर भी ध्यान दो
घोर अँधेरे में उठती जब लहर हो
तुमुल घात प्रतिघात पवन का हो रहा
... ...
छोड़ कूदना तिनके का अवलंब ले
घोर सिंधु में, क्या बुधजन का काम है ?"

—प्रसाद

इसका परिणाम यह होता है कि नाद और विचार साथ साथ नहीं चल पाते, यदि विचार या वाक्य के अनुसार कविता पढ़ी गई तो नाद-सौंदर्य में बाधा पड़ती है और यदि नाद-सौंदर्य की पूर्ण रक्षा की गई तो अर्थ के बोध-गम्य होने में कठिनाई आ उपस्थित होती है। फिर भी यह प्रवृत्ति उतनी हानिकारक नहीं

कही जा सकती जितनी उपर्युक्त है क्योंकि उससे नाद-सौंदर्य का ह्रास होता है और इससे अधिक से अधिक यही होता है कि कविता के नाद-तत्त्व और विचार-तत्त्व अलग अलग हो जाते हैं, विचार के लिए कविता पढ़ी जा सकती है और नाद का आनंद उठाने के लिए वही सुनी जा सकती है। एक वार में न सही दो वार में कविता का आनंद आ ही जायगा।

यहाँ थोड़ा सा अंत्यानुप्रास (तुक) पर विचार कर लेना चाहिए। पुरानी कविता में तुक बराबर मिलता है। पर आजकल के कवि सोचते हैं कि तुक की चिंता में भावों की स्वच्छंदता नहीं रह जाती, भाव और भापा का सामंजस्य नहीं निभाया जा सकता। भावना को छंद के अनुसार ले जा कर किसी प्रकार खींच खाँच कर छंद के ढाँचे में भर देना पड़ता है और पाद-पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्द भी रख देने पड़ते हैं। अस्तु, अँग-रेजी कविता (Blank Verse) की देखादेखी हिंदी में भी उसी प्रकार की कविता होने लगी है। 'प्रियप्रवास' इस प्रकार की रचना का सुंदर उदाहरण है। उक्त ग्रंथ को देख कर कहा जा सकता है कि कि अतुकांत कविता अच्छी हो सकती है। वात ठीक भी है। पर छंद से जो नाद-सौंदर्य आता है वह तुक से और भी बढ़ जाता है। * यह तुक कितना महत्त्वपूर्ण है यह नवीन कविता के

तुक

* "जो लोग अंत्यानुप्रास की आवश्यकता नहीं समझते उनसे मुझे

प्रतिनिधि-कवि श्रीसुमित्रानंदन पंत के ही शब्दों में देखिए—
"तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पंदन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानों अंत्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केंद्रित रहती, जहाँ से नवीन बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण करके छंद के शरीर में स्फूर्ति संचार करती हैं। जो स्थान ताल में 'सम' का है, वही स्थान छंद में तुक का, ·········। जिस प्रकार अपने आरोह-अवरोह में रागवादी स्वर पर बार बार ठहर कर अपना रूप-विशेष व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट हो कर लय-युक्त हो जाता है।·········प्रत्येक वाक्य के प्राण शब्द-विशेष पर निहित अथवा अवलंबित रहते हैं शेष शब्द उसकी पूर्ति के लिए, भाव को स्पष्ट करने के लिए, सहायक-मात्र होते हैं। उस शब्द को हटा देने से सारा वाक्य अर्थशून्य,

---

यही पूछना है कि अंत्यानुप्रास ही पर इतना कोप क्यों? छंद और तुक दोनों ही नाद-सौंदर्य के उद्देश्य से रखे गए हैं। फिर क्यों एक निकाला जाय दूसरा नहीं? यदि कहा जाय कि सिर्फ छंद ही से उस उद्देश्य की सिद्धि हो जाती है तो यह जानने की इच्छा बनी रहती है कि क्या कविता के लिए नाद-सौंदर्य की कोई सीमा नियत है? यदि किसी कविता में भाव-सौंदर्य के साथ नाद-सौंदर्य भी वर्तमान हो तो वह अधिक ओजस्विनी और चिरस्थायिनी होगी।"

—आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल

हृदय-हीन-सा हो जाता है। वाक्य की डाल में, अपने अन्य सहचरों की हरीतिमा से सुसज्जित, यह शब्द नीड़ की तरह छिपा रहता है, जिसके भीतर से भावना की कोकिला बोल उठती, और वाक्य का प्रत्येक पत्र उसके राग को अपनी मर्मर ध्वनि में प्रति-ध्वनित कर परिपुष्ट करता है, इसी शब्द-सम्राट् के भाल पर तुक का मुकुट शोभा देता है इसका कारण यह है कि अंत्या-नुप्रास वाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता रहता है, अतः वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण यह भाव के हृदयंगम कराने में भी सहायता दे सकता है।" रही भावों की परतंत्रता की बात। यह बात बहुत नहीं जँचती। आजकल के कवि भी तुक की परतंत्रता न सही पर किसी न किसी बंधन में बँधते हैं। * वहाँ भी तो भावों की स्वच्छंदता में बाधा पड़ती ही है। फिर उसका त्याग क्यों नहीं करते। इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न उठता है कि सूर, तुलसी इत्यादि महाकवियों के भाव इस बंधन के कारण क्यों नहीं गड़बड़ हुए।

छंदों पर विचार करते हुए एक बात पर और ध्यान जाता है। हमारे यहाँ जिस प्रकार कृष्ण-काव्य गीतों में लिखा गया, उसी

---

* देखिए पल्लव की भूमिका, पृष्ट ५३ "....बीच बीच में छंद की एकस्वरता तोड़ने तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा बढ़ा दिए गए हैं ......"

प्रकार आजकल की कविता प्रधानतः गीतों में हो रही है। संगीत कला है। अतः कला-काल में संगीत का विकास होना ही चाहिए। आजकल की कविता में गीत का क्या महत्त्व हो रहा है इसको समझने के लिए 'गुंजन' की भूमिका पढ़नी चाहिए* और 'पल्लव' तथा 'गुंजन' की शब्दावली पर ध्यान देना चाहिए। पंतजी अपनी रचना से एक 'सरगम' तैयार कर रहे हैं जिसका 'सा' स्वर 'पल्लव' में और 'रे' गुंजन में है। 'पल्लव' में 'सा' की अधिकता तथा 'गुंजन' में 'रे' की अधिकता है। निरालाजी की रचनाओं में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति लक्षित होती है।

अब कला-पक्ष की चौथी एवं अंतिम बात आती है; वह है रीति। प्राचीन कविता में शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए रसों के अनुसार कोमल अथवा परुष वर्णों का प्रयोग कवि लोग किया करते थे। वे शृंगार, करुण और हास्य रस की कविता उपनागरिका में, रौद्र, वीर और भयानक रस की कविता कोमला वृत्ति में लिखते थे। आजकल की कविता में भी इसका निर्वाह बराबर पाया जाता है, यद्यपि कुछ समीक्षक इस बात को

---

* "....'पल्लव' की कविताओं में मुझे 'सा' के बाहुल्य ने भुलाया था, यथा—'....' 'गुंजन' में 'रे' की पुनरुक्ति का मोह नहीं छोड़ सका ......। 'सा' से, जो मेरी वाणी का संवादी स्वर एकदम 'रे' हो गया, यह उन्नति का क्रम संगीत-प्रेमी पाठकों को खटकेगा नहीं, ऐसा मुझे विश्वास है।"

स्वीकार करना नवीन कविता का अपमान करना समझते हैं। यदि इस बात पर ध्यान न दिया जाता तो पंतजी को शब्दों के स्वरूपों के लिए अपने 'पल्लव' की भूमिका के अनेक पृष्ठ न रँगने पड़ते। * और न यही कहने की आवश्यकता पड़ती कि "जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'वटु-समुदाय' ही दादुरों की तरह इधर-उधर कूदते फुदकते तथा साम-ध्वनि करते सुनाई देते हैं।" इतना ही नहीं बहुतों (संवेदनावादियों) के मत से तो कविता में यही (रीति ही) सब कुछ है-वे अर्थों तक पर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझते। सारांश यह कि पुरानी कविता की भाँति आजकल की कविता में भी वृत्तियों का निर्वाह बराबर पाया जाता है। यह बात दूसरी है कि कठोर भावों की व्यंजना के लिए अब शब्द उतने तोड़े-मोड़े नहीं जाते।

भाषा

यदि भाव कविता-कामिनी के प्राण हैं और अलंकार आभूषण तो भाषा शरीर है जिसके बिना दोनों व्यर्थ हैं। भाव भाषा द्वारा ही सम्यक् प्रकार से व्यक्त हो सकते हैं। यदि भाषा भाव को व्यक्त करने में सशक्त न हुई तो कवि के भाव चाहे जितने भी ऊँचे, पूर्ण और सुंदर हों, पाठक अथवा श्रोता के समक्ष वे उस रूप में कदापि नहीं आ सकते। अस्तु, अपने कथन को प्रकट करने के लिए कवि को ऐसी भाषा बनानी पड़ती है जो उसे प्रकट करने में सशक्त हो, साथ ही भाषा-भाषी के लिए बोधगम्य भी हो। इसके लिए उसे अपनी भाषा को काट छाँट कर उपयुक्त शब्द चुन कर उन्हें नाप-तौल कर अपने रंग में रँग कर रसात्मक, मधुर, सुंदर, उपयुक्त और रमणीय बनाना पड़ता है। इसी लिए वह भाषा का कर्ता कहलाता है। यदि कवि अपनी भाषा को लचीली न बना सका, लचीली बना कर भी यदि वह

उसमें प्रवाह न ला सका, उसमें अलंकार-प्रस्फुटन की योग्यता न आई अथवा शब्दरंकता दिखाई पड़ी तो उसे कवि के पवित्र और ऊँचे आसन पर बैठने का अधिकार नहीं, क्योंकि वह अपने भावों को सम्यक् प्रकार से प्रकट करने में समर्थ ही नहीं हो सकता। कविता की भाषा में हृदय को द्रवीभूत करने की क्षमता होनी चाहिए और यह तभी संभव हो सकता है जब भाषा ※ आवश्यकतानुसार प्रसाद, ओज और माधुर्य से पूर्ण हो। संस्कृत और अँगरेजी के आचार्यों द्वारा दिए गए काव्य-लक्षण* से भी यही ध्वनि निकलती है कि भाषा कविता का बहुत बड़ा अंग है। अस्तु, कविता पर विचार करते समय भाषा पर विचार करना आवश्यक है।

हिंदी-भाषा के आदिकवि हैं चंद बरदाई। उन्हीं के

※ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

—पंडितराज जगन्नाथ तैलंग

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् —विश्वनाथ महापात्र

"Poetry is the embodiment in appropriate language of beautiful or high thoughts,

"Poetry is the art of expressing in melodious words the thoughts which are the creations of feeling & imagination."

—Webster

समय से हिंदी-कविता का आरंभ माना जाता है, हिंदी प्राकृत से अलग होती दिखाई देती है। अतः उस समय की भाषा का प्राकृताभास होना विलकुल स्वाभाविक है। अतः प्राकृत की सरसता हिंदी को जन्मसिद्ध अधिकार (legacy) के रूप में मिली; और उसका वैभव व्रजभाषा द्वारा वढ़ता ही गया। व्रजभूमि के कवियों के हाथ में पड़ कर वह सजीव हो उठी और उसका रूप निखर आया। इधर अवधी भी साहित्य के क्षेत्र में स्थान पाने लगी और अवध के मुसलमानों के हाथ में पड़ कर वह मँजने लगी। छोटे मोटे कवियों के अतिरिक्त 'कुतवन' ने अवधी में 'मृगावती' और मलिक मोहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' लिखी। इससे अवधी और भी सशक्त हो गई। महात्मा तुलसी-दासजी ने उसमें 'रामचरित-मानस' लिख कर उसे अमर कर दिया। वह महात्माजी के 'रामचरित-मानस' के कारण पूर्व से पश्चिम तक व्यापक हो गई। इसका एक बहुत वड़ा दुष्परिणाम भी हुआ। व्रजभाषा की विशुद्धता में वहुत वड़ा व्याघात पहुँचने लगा। उसमें अवधी के शब्द ही नहीं वरन् रूप भी व्यवहार में लाए जाने लगे। फिर क्या था, भाषा में प्राकृत के शब्दों के प्रयोगों के साथ साथ 'कीना', 'कियो', 'कीन', 'किय', 'करो', 'कर'; 'मेरो', 'मोर', 'थोर' सवका प्रयोग होने लगा। अवधी और व्रज में स्वरूप-भेद होने के कारण दोनों का सौंदर्य भिन्न भिन्न है। अतः दोनों भाषाओं के मेल से दोनों के सौंदर्य में व्याघात पड़ा। इसका यह अर्थ नहीं कि शुद्ध अवधी और व्रज लिखने वाले

कवि हुए ही नहीं। रघुनाथदास का 'विश्राम-सागर' शुद्ध अवधी का अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार घनानंद और रसखान ने शुद्ध व्रजभाषा में कविता की है। पर ये कवि अपवाद-स्वरूप हैं। वस्तुतः महात्मा तुलसीदासजी के अनंतर अवधी का प्रचार बंद सा हो गया, पर व्रजभाषा भारतेंदु काल के कुछ पीछे तक ज्यों त्यों चलती रही। किंतु व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था नहीं हुई। शब्दालंकार के फेर में पड़ कर च्युतसंस्कृति और ग्राम्यत्व दोषों की अधिकता होने लगी और कुछ नहीं तो भरती का 'सु' तो प्रायः सभी कवियों में आने लगा। फल यह हुआ कि कवियों में भाषा की सफाई न आई, उसकी वाक्य-रचना सुव्यवस्थित न हो पाई। भाषा का सौष्ठव नष्ट हो गया। जैसा कि ऊपर कहा गया है व्रज और अवधी का संमिश्रण अच्छे अच्छे कवि तक करने लगे। उदाहरण के लिए बिहारी लिए जा सकते हैं। बिहारी की भाषा बहुत सुंदर है। भाषा की सफाई की ओर उनका ध्यान स्पष्ट है पर उनकी कविता में भी अवधी के प्रयोग देखिए—

> "जगत जनायो जिहिं सकलु सो हरि जान्यौ नाहिं
> ज्यौं आँखिन सबु देखियै आँखि न देखी जाहिं"
> "पिय तिय सौं हँसि कै कह्यौ लखैं दिठौना दीन
> चंद्रमुखी मुखचंद तैं भलौ चंद सम कीन"

उपर्युक्त कथन का समर्थन 'दास'जी के इस दोहे से भी हो जाता है जो उन्होंने भाषा के संबंध में कहा है—

"तुलसी गंग दुवौ भए, सुकविन के सरदार
इनके काव्यन में मिली, भाषा विविध प्रकार"

भाषा की इस अवस्था की ओर आधुनिक काल के कवियों में राजा लक्ष्मणसिंह की दृष्टि गई और उन्होंने उसे संस्कृत किया। एक उदाहरण लीजिए—

"थकि जायगी दामिनि तेरी तिया
बहु बेर लों हास-विलास करे।
टिकि रात में लीजियो काहू अटा
जहँ सोवत होइँ परेवा परे।
दिन ऊगत फेर उतै चलियो
जित में चलिबे को रहे दग रे।
सहतात कहाँ नर वे जग में
जिन मीत के कारज सीस धरे॥"

लक्ष्मणसिंह के अनंतर श्रीधर पाठक और रत्नाकरजी ने भी बहुत प्रौढ़ तथा परिष्कृत ब्रजभाषा लिखी है।

उधर भारतेंदु काल के कुछ पीछे खड़ी बोली काव्य-क्षेत्र में आई। उसे हिंदी या संस्कृत के वृत्तों में ढालना कवियों को कुछ कठिन प्रतीत होने लगा। अतः पहले उर्दू-बहरों में ढाली गई। उर्दू-बहरों में ढालने के कारण अथवा उसमें काव्योचित माधुर्य का अभाव देखने के कारण उस समय की कविता उर्दू-फारसी शब्दों से लद ही नहीं गई वरन् पूर्ण उर्दू हो गई—

"दिल मेरा ले गया दगा करके
बेवफा हो गया वफा करके
हिज्र की शब घटा ही दी हमने
दास्ताँ जुल्फ की बढ़ा करके"

—भारतेंदु

द्विवेदी काल में यह प्रवृत्ति बदली और संस्कृत-वृत्त अपनाए जाने लगे। जिस प्रकार उर्दू-बहरों के लिए अरबी-फारसी के शब्दों का ग्रहण अनिवार्य सा था उसी प्रकार संस्कृत-वृत्तों के लिए संस्कृत-पदावली ही उपयुक्त हो सकती थी। अतः खड़ी बोली में संस्कृत-पदविन्यास की भरमार होने लगी। उपाध्यायजी के प्रिय-प्रवास में यह प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ी हुई दिखाई पड़ती है कि उसमें हिंदीत्व ढूँढ़ने से कहीं कहीं मिलता है। अधिकांश प्रियप्रवास की भाषा संस्कृत सी ज्ञात होती है—

"रूपोद्यानप्रफुल्लप्रायकलिका राकेंदुबिंबानना
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ाकलापुत्तली
शोभावारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्यलीलामयी
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य-सन्मूर्ति थीं"

द्विवेदी-मंडल के कवियों की भी यही दशा रही। उनकी भाषा संस्कृतगर्भित ही नहीं रही, कर्कश भी हो गई—

"कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करत विचारोत्कृष्टता ?"

—मैथिलीशरण गुप्त

इतना ही नहीं उसमें साधुता का भी अत्यंत अभाव था—

"भृकुटी कुटिल कटाक्ष-पात से उसे सुंदरी सुरबाला
बाँध डाल रक्खे वैसे ही पड़ा रहे वह चिरकाला"

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रसाद काल में प्रत्यावर्तन हुआ। मधुर पदावली का माधुर्य तो उपाध्यायजी की ही रचना में आ गया था, पर अभिव्यंजना के वैचित्र्य का अभाव था। प्रसाद काल में उसकी भी पूर्ति हो गई। इस काल में कर्कशता से बचने का प्रयत्न किया जा रहा है। दीर्घांतपदत्व और बड़ी बड़ी क्रियाएँ भाषा की मधुरता में बाधक हैं। इनके त्याग की ओर भी वर्तमान कवियों की दृष्टि है। व्याकरण की व्यवस्था होने के कारण नवीन कवियों की भाषा में वाक्य-रचना अव्यवस्थित नहीं होती। हाँ, व्यक्तिवैचित्र्य, स्वच्छंदप्रियता और नवीनता-प्रदर्शन के कारण कहीं कहीं दुष्ट प्रयोग और अन्य भाषाओं के प्रयोगों का अनुचित मिश्रण मिलता है। जैसे—

(क) " भौंरों के सुरभित अभिसार "

('अभिसार' का प्रयोग यहाँ 'संकेत-स्थल' के लिए हुआ है पर 'अभिसार' 'जाने को' कहते हैं।)

इसी प्रकार—

(ख) " ललित कंधरा कंठ कंबु सा
नयन पद्म से, ओज अंबु सा "

(यहाँ 'कंधरा' 'कंधे' के अर्थ में प्रयुक्त है पर 'कंधरा' का अर्थ 'गर्दन' होता है।)

(ग) " मधुर वेणु की सी झंकार "

('वेणु' 'वंशी' को कहते हैं। पर यहाँ कवि का आशय 'वीणा' से है। क्योंकि 'वेणु' में झंकार नहीं होती।)

(घ) " मिला लालिमा में लज्जा की "

('लाल' अरबी का शब्द है। अतः इसमें हिंदी-प्रत्यय ही लग सकता है। पर यहाँ संस्कृत-प्रत्यय लगाया गया है।)

इसी प्रकार—

(ङ) " सखि न हटा मकड़ी को आई है यह सहानुभूतिवशा
जालगता मैं भी तो हम दोनों की यहाँ समान दशा "

(यहाँ 'सहानुभूतिवशा' और 'जालगता' हिंदी के प्रयोग नहीं हैं। यह संस्कृत की प्रवृत्ति है।)

(च) " मेरे क्रंदन में बजती
क्या वीणा ? जो सुनते हो "

('जो' बोलचाल का शब्द है। यहाँ 'जिससे' होना चाहिए।)

'पेट भर', 'जी भर' का भी दुष्ट प्रयोग देखिए—

" देवी उन कांता सती शांता को सुलक्ष कर
वक्षभर मैंने भी हँसी यों अकस्मात की "

भारत में भौंरा काला होता है। पर 'गोल्डेन बी' (Golden bee) के प्रेमी उसे भी 'स्वर्णिक' बना डालते हैं।

हिंदी में लिंग-भेद का झमेला बहुत पुराना है अत: 'पंत' के

" कहाँ नहीं है स्नेह ? स्वाँस सा सबके उर में "

आए 'स्वांस' का समर्थन हो जाता है। पूर्व में न सही दिल्ली में तो साँस पुलिंग ही बोला जाता है। पर—

" क्षुब्ध - जल - शिखरों को जब वात
सिंधु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना विथुरा देती अज्ञात;"

—'पल्लव' से

" क्यों व्यथित व्योम - गंगा सी
छिटका कर दोनों छोरें "

—'आँसू' से

में 'वात' और 'छोरें' के प्रयोग का कारण समझ में नहीं आता। 'वात' और 'छोर' ये दोनों तो पुलिंग में ही आते हैं। उनका स्त्री-लिंग में प्रयोग करना तो स्वच्छंदप्रियता ही कही जायगी। व्याकरण-दोष का यहीं अंत नहीं होता। एक और बेतुका पद्यांश देखिए—

"हमने उसको रोक न पाया
तो निज दर्शन - योग गमाया"

—'साकेत' से

इस प्रकार के अनेक भाषा-दोष हिंदी-कविता में मिलते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों से भाषा तो बिगड़ी ही है साथ ही कहीं

कहीं कविता में दुर्बोधता भी आती है। दुर्बोधता लाने वाले दोषों में से एक दोष और है, और वह है न्यूनपदत्व जो आजकल की कविता में बहुत अधिक मिलता है। कुछ उदाहरण लीजिए—

"प्रिय के गौरव ने

लघुता दी है मुझे रहें दिन भारी"

—मैथिलीशरण गुप्त

'मुझे' के अनंतर 'इसी से' और 'रहें' के स्थान में 'रहते हैं' न जोड़िए तो अर्थ कुछ का कुछ हो जाय।

"त्रिविध पवन ही था आ रहा जो उन्हीं सा

यह वनरव ही था आ रहा जो उन्हीं सा"

कवि का आशय है उन्हीं के 'स्वर-सा' पर क्या 'उन्हीं सा' से यह अर्थ निकलता है ? देखिए नीचे का उदाहरण शब्दों की कमी के कारण कितना अस्पष्ट (Vague) हो गया है—

" तिर रही अतृप्ति - जलधि में

नीलम की नाव निराली

काला - पानी - वेला सी

है अंजन - रेखा काली "

—प्रसाद

इसका अर्थ तभी समझ में आएगा जब 'नीलम की नाव निराली' के पूर्व 'प्रेमी की' और 'है अंजन-रेखा काली' के पूर्व 'प्रिय की' जोड़िए।

हमारे साहित्य-शास्त्र में भापा के संवंध में अलग विचार नहीं हुआ। कविवर भिखारीदास संभवतः पहले आचार्य हैं जिनका ध्यान कविता की भापा के संवंध में गया है। पर वह भी विवेचन के रूप में नहीं हुआ। हिंदी-कविता के प्राचीन कवि अलंकारों—विशेपतः शब्दालंकारों द्वारा अपनी भापा सजाते थे। सानुप्रास भापा का सौंदर्य यदि किसी को देखना हो तो 'राम चरित-मानस' को उठा कर देख ले। कहीं कहीं तो अनुप्रासों की योजना ऐसी सुंदर हुई है कि उससे प्रस्तुत प्रसंग की ध्वनि सी सुनाई पड़ने लगती है—

"कंकन किंकिनि नूपुर-धुनि सुनि
कहत लखन सन राम हृदय गुनि"

—तुलसीदास

"रनित-भृंग-घंटावली, झरित-दान-मद-नीरु
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज-समीरु"

—'विहारी-सतसई' से

इसमें कोई संदेह नहीं कि पिछले खेवे के कवियों ने अनुप्रास का दुरुपयोग किया, उसके लोभ में पड़ कर कवियों ने शब्दों का ऐसा अंग-भंग किया कि उनके प्रकृत रूप का पता लगाना बड़ा कठिन है—

कोकनद पाली घाली खंजन खुशाली चाली
मीन, पीनवाली हाली सब छिति छ्वै गई।
माली मृगडाली में लुकात जान जाली हो,
विहाली ख्याल खाली लै अलाली बान वै गई।

'कबि सरदार' याली कौन की उलाली,
बालि हान मान भाली जो सुजान मान ह्वै गई।
आली आजु काहे तें विशाली बनवाली आए,
नैनन में लाली जो गुलाली रंग ह्वै गई।

इस प्रवृत्ति के प्रतिकूल प्रतिवर्तन होना बिलकुल स्वाभाविक था। किसी सीमा तक यह प्रतिवर्तन बहुत ठीक है, पर कविता की भाषा को अनुप्रासविहीन करके छोड़ने की प्रतिज्ञा करना कवि-कर्म को न समझने का प्रमाण देना है। अलंकार-प्रकरण में यह दिखलाया जा चुका है कि अलंकारों का त्याग बात ही बात है। जो कवि-कर्म को समझते हैं वे आज भी—

"सखि, निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चंचल अंचल,
झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अंतस्तल भर के
उछल उछल कर, छल छल करके
थल थल करके, कल कल करके
बिखराती है पारा
सखि निरख नदी की धारा।"

लिख कर अनुरणन पैदा करते हैं। नवीनता से चौंधिआई हुई अंत:दृष्टि इसमें भी नवीनता ही देखेगी और इसे संवेदनावाद (impressionism) का प्रसाद समझेगी। ऐसी दृष्टि वालों से इससे अधिक और क्या निवेदन किया जा सकता है कि वे कृपा

करके यदि अंतःदृष्टि न खुले तो चर्मचक्षुओं को ही कष्ट दे कर किसी साहित्य-शास्त्र में 'रीति' का प्रकरण पढ़ लें। कहने की आवश्यकता नहीं कि गुण, वृत्ति, रीति आदि का विचार भाषा को ही ले कर किया जाता है।

आजकल की भाषा में सबसे बड़ा अभाव मुहावरों के प्रयोग का है। मुहावरे कविता के लिए बहुत आवश्यक हैं। स्मिथ साहब का यह कथन बहुत सत्य है कि "मुहावरे भाषा के जीवन की स्फूर्ति हैं। ये उसे जीवन ही भर नहीं देते वरन् सुंदर भी बनाते हैं। मुहावरों के अभाव से वह अरुचिकर, भद्दी और अशक्त हो जाती है। इसे कविता की बहन समझना चाहिए, क्योंकि कविता की भाँति ये भी हमारे विचारों को जीवित संवेदना का रूप देते हैं।" * यही कारण है कि रचना-सौष्ठव पर ध्यान देने वाले पुराने कवि काव्य-परंपरा से मुहावरों का प्रयोग अपनी भाषा में करते थे। किंतु आजकल के कवि अपने वाक्य-विन्यास पर भरोसा रख कर चलते हैं और मुहावरों के अभाव की पूर्ति लक्षणा से करना

---

* Idioms are little sparks of life and energy in our speech;...........diction deprived of idiom soon becomes tasteless, dull, insipid...........it is, in truth, "the life and spirit of language." It may be regarded as the sister of poetry, for like poetry it retranslates our concepts into living experiences.

चाहते हैं। लक्षणा के प्रयोग से अभिव्यंजना का वैचित्र्य, जो कविता के लिए बहुत आवश्यक है, अवश्य आ रहा है। पर साथ ही वह क्लिष्ट भी होती जा रही है और सर्वसासाधारण के लिए वह बोधगम्य नहीं हो रही है। मुहावरों का प्रयोग किया भी जाता है तो अँगरेजी मुहावरों का। * इसके कारण भी वह सर्व-साधारण से दूर हो रही है।

---

* "चूम मौन कलियों का मान" का अर्थ तभी समझ में आएगा जब 'किस्ड अवे' (kissed away) का अर्थ ज्ञात हो।

उपसंहार

नवीन कविता की कुछ विशेषताएँ

अब तक जो कुछ लिखा गया है उससे साफ पता चलता है कि नवीन कविता में प्राचीन कविता से कोई बहुत बड़ा मौलिक अंतर नहीं हुआ है। जो अंतर लक्षित होता है वह परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण। पहले जीवन में इतनी अस्थिरता, इतना अविश्वास न था। अतः मनुष्य अपने पार्थिव अभावों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते हुए भी पारमार्थिक चिंतन की थोड़ी-बहुत परवा अवश्य करता था। इसलिए बहुत से उच्चकोटि की प्रतिभा वाले कवि ईश्वर-भक्ति की ओर झुके थे। वे 'प्राकृत जन' का गुण-गान करना कविता का दुरुपयोग समझते थे। राजनीति के क्षेत्र में राजा ईश्वर का अंश समझा जाता था, क्योंकि उसमें भी ईश्वर के समान रक्षकत्व की भावना की जा

विभावगत विशेषताएँ

सकती थी। अतः वह 'प्राकृत जन' से कुछ ऊपर उठा हुआ अवश्य कहा जा सकता था। इसीलिए राजाओं को प्रशस्तियों के भीतर भी उच्च भावों का समावेश हो जाता था'। उच्च वर्ग के जीवन का जैसा अच्छा प्रभाव दूसरे के जीवन पर पड़ सकता है उतना सामान्य व्यक्ति के जीवन-वृत्तांत से नहीं। संभवतः यही कारण है कि उस समय कविता के उपयुक्त विषय ईश्वर, राजा अथवा उच्च वर्ग के व्यक्ति समझे जाते थे। पर आज परिस्थिति कुछ भिन्न है। जीवन में अनेक जटिलताएँ आ गई हैं, ईश्वर-संबंधी विश्वास डावाँडोल है, राजा और सामान्य व्यक्ति में कोई तात्त्विक अंतर नहीं माना जाता है, साम्यवाद जोर पकड़ रहा है। इससे अब कविता में ईश्वर अथवा राजा का कोई विशेष संमान नहीं रह गया है। आज मनुष्य जीवन की अनेक समस्याओं से ऊब गया है। फलस्वरूप वह प्रकृति की शरण में जाकर शांति पाना चाहता है। सारांश यह कि वर्तमान कवि के लिए कविता का विभाव पक्ष व्यापक हो गया है। कवि के सामने राजा और उच्च वर्ग के व्यक्ति ही नहीं आते, वरन् अनंत प्रकृति फैली पड़ी है। धर्म पर निष्ठा न होने के कारण प्राचीन ज्ञान श्रद्धा का विषय नहीं रह गया, उस पर अब ऐसा विश्वास नहीं रह गया है कि मनुष्य के हृदय में तरह तरह की शंकाएँ न उठें। शंकाएँ उठ कर कुतूहल का आविर्भाव कर रही हैं। इस कुतूहल में पड़ कर आज का कवि जिज्ञासु होकर अनंत प्रकृति को देखता है, पर उसका कोई विशिष्ट स्वरूप नहीं स्थिर कर पाता। फिर वह

अपनी कविता में उसका स्पष्ट स्वरूप कैसे रखे? आज आध्यात्मिक पिपासा को शांत करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है, पर वह मूल रूप से हमारे साथ बद्ध है। अतः कवि इस संसार के प्रत्येक पदार्थ तथा अनुभूति में आध्यात्मिकता का रंग चढ़ाना चाहते हैं, चाहे वह कृत्रिम ही क्यों न हो। लौकिक में अलौकिकता का आरोप करते चलते हैं। सारांश यह कि आज का कवि भी अपने विभाव-पक्ष को जगत् और जीवन से ही पाता है। हाँ, परिस्थिति में बँध कर वह उसमें अनेक प्रकार की कारीगरी करता रहता है।

विभाव के अनंतर जब भाव पर आते हैं तो वहाँ भी देखते हैं कि नवीन कविता उन्हीं आठों रसों के अंतर्गत आती है जिनमें प्राचीन कविता हुई है। यह कहना कि यदि पं० रामचंद्र शुक्ल का साधारणीकरण लेकर कविता चलती तो वह न जाने कब की मर गई होती, अपने ज्ञान का थोथापन दिखलाना है। कविता कविता तभी कही जायगी जब उसमें साधारणीकरण करने की शक्ति होगी। हाँ, तो जिस प्रकार प्राचीन कविता में रति भाव की प्रधानता थी उसी प्रकार वर्तमान कविता में भी है। इसमें संदेह नहीं कि पुराने कवियों ने स्त्री और पुरुष के शरीर-सौंदर्य की ओर ही विशेष ध्यान दिया है, अंतर्जगत् में जो परम सौंदर्य छिपा हुआ है उस पर विशेष दृष्टि नहीं डाली है। आजकल की कविता भौतिक जगत् से ऊबी सी और मानस-जगत् की ओर अधिक उन्मुख दिखाई देती है। आलंबन

विभाव की अस्पष्टता के कारण लौकिक रति में भी आध्यात्मिकता का रंग चढ़ा रहता है, रहस्यात्मक कविता में तो रहना ही चाहिए। उसमें तो इस प्रकार के रहस्य सिद्धांतों (mystic dogma) के आभास भी बराबर मिला करते हैं कि इस बँधे हुए जगत् में आत्मा स्वच्छंद नहीं विचर पाती; उसके स्वच्छंद विचरण के लिए कल्पना अनेक क्षेत्र खोलती रहती है, जहाँ इस जगत् के देश-काल-संबंधी भौतिक नियम बाधक नहीं होते। अतः सांप्रदायिक रहस्यवाद के अनुसार भौतिक रूप असत्, पर कल्पना या स्वप्न में आए हुए रूप सत् अर्थात् आध्यात्मिक जगत् के आभास हैं। * इस प्रकार की कविता में उत्कंठापूर्ण जिज्ञासा अनिर्दिष्ट स्मृति और स्वप्न की बाढ़ सी रहती है। रति के वियोग

---

* मानस की फेनिल लहरों पर
किस छवि की किरणें अज्ञात
रजत स्वर्ण में लिखतीं अविदित
तारक-लोकों की शुचि बात
... ...
जग के निद्रित-स्वप्न सजनि! सब
इसी अंधतम में बहते
पर जागृति के स्वप्न हमारे
सुप्त हृदय ही में रहते
—पंत

पक्ष में आजकल के कवियों की वृत्ति पुराने कवियों की अपेक्षा अधिक कोमल है; दुःख की दशा में भी उत्कृष्ट भावों के लिए उनके हृदय में स्थान रहता है, उनके वियोग का स्वरूप उतना लयकारी नहीं जान पड़ता। आलंवन-भेद से रति के जो कई स्वरूप प्राचीनों ने निर्दिष्ट किए थे उनको वर्तमान काल में जगह नहीं मिलती। यदि रति का और दूसरा स्वरूप मिलता है तो वह है ईश्वर-विषयक रति और देश-विषयक रति। पर ईश्वर-विषयक रति में वह पूज्य भाव आजकल नहीं मिलता जो पुराने कवियों की विनय में दिखाई पड़ता था। हाँ, ईश्वर-विषयक मीरा तथा गोपियों इत्यादि की वह विशुद्ध रति मिलती है जिसमें ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप में की गई है।

राष्ट्रीय भावना के विकास के कारण नवीन कविता में 'उत्साह' का क्षेत्र विस्तृत तो हो गया, अनेक प्रकार की सद्भावनाएँ तो आईं पर उसमें पक्ष एक ही है। उत्साह-विषयक वर्तमान कविता में वीरत्व के आभ्यंतर स्वरूप के दिग्दर्शन की ओर ही विशेष प्रवृत्ति है, वाह्य पक्ष शिथिल है। युद्धव्यापारादि का वर्णन, हृदय की उमंग, साहस आदि का प्रदर्शन जैसा प्राचीन कविता में हुआ है वैसा नहीं होता। इसके अतिरिक्त वीर रस की कविता का कोई निश्चित ढंग नहीं है, उसमें 'उत्साह' कहीं 'शोक' के साथ, कहीं 'अमर्ष' के साथ उलझता चलता है।

हास्य रस के विषय तो नवीन कविता में खूब वढ़े, पर काव्योचित हास्य पर वहुत कम कविता हुई; अधिक भड़ौआ-संग्रह ही

रहा। प्राचीन हास्य शुद्ध विनोद की दृष्टि से लिखा जाता था पर नवीन हास्य में उपेक्षा, घृणा, विरक्ति इत्यादि के भाव छिपे रहते हैं।

नवीन कविता में रति की अधिकता तो है ही पर शोक की भी कमी नहीं है। पुरानी कविता में कुछ भक्त-कवियों ने लोक की पीड़ा, अव्यवस्था आदि पर अवश्य दु:ख प्रकट किया है पर शोक या विषाद मुख्यत: आत्म-पक्ष तक ही रहा, किंतु नवीन कविता में कुछ तो जीवन की कठिनाइयों के कारण और कुछ पश्चिम के निराशावाद (Pessimism) की नकल के कारण शोक की बाढ़ सी आ गई। यह शोक अनेक रूपों में मिलता है। इधर कुछ दिनों से 'अनल-गान' का राग इसके साथ अलापा जाने लगा है, जिससे कविता का स्वरूप और भी अद्भुत हो गया है। पर ध्यानपूर्वक देखने से उन सब रूपों का पर्यवसान दो में हो जाता है—(१) आध्यात्मिक दु:खवादमूलक और (२) राष्ट्रीयता-मूलक। पहले में तो कुछ अस्वाभाविकता दिखाई पड़ती है, पर दूसरे प्रकार के शोक पर अच्छी कविताएँ हो रही हैं। पहले की भी अस्वाभाविकता वहाँ नहीं खटकती जहाँ व्यक्तिगत प्रेम समस्त लोक के प्रति संकेत करता है और व्यक्तिगत वियोग-दु:ख लोक-दु:ख की ओर संकेत करता हुआ लोकोन्मुख करुणा का आभास देता है—

"जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे

फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे
... ...
सबका निचोड़ ले कर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन सा
आँसू इस विश्व-सदन में"

—'आँसू' से

प्राचीन कविता में क्रोध का कारण शत्रु होता था। आश्रय आलंबन के विनाश के लिए गरजता-तड़पता था। पर आजकल के क्रोध का कारण लोक की दुर्व्यवस्था, अन्याय-अत्याचार का साम्राज्य है। यदि यह दुर्व्यवस्था दूर नहीं होती तो कवि संपूर्ण भूमंडल का, उसके साथ अपना भी नाश चाहता है। इस क्रोध के मूल में सुधार की भावना तो छिपी दिखाई देती है किंतु इससे न तो उस वेदना के आवेग का पता चलता है जो इस प्रकार के अमर्ष के मूल में छिपा रहता है और न हृदय को दहलाने वाले क्रोध ही का स्वरूप व्यक्त होता है। हाँ, "कविता का उद्देश्य कविता है" इसका समर्थन अवश्य हो जाता है। इस प्रकार के क्रोध से लोक-मंगल की आशा न करनी चाहिए। पर जो कविता सच्ची राष्ट्रीय भावना से हुई है, उसमें जीवन और यौवन है। उससे पता चलता है कि कवि के कान कातर स्वरों से भरे हैं और उसके नेत्रों ने अन्याय और अत्याचार का नृत्य देखा है।

उपर्युक्त भावों के अतिरिक्त अन्य भावों का अभाव सा है। सौंदर्योपासना के युग में जुगुप्सा आ ही नहीं सकती; हाँ, भय और आश्चर्य की व्यंजना रहस्यमयी उद्भावनाओं में हो जाती है। पर उनकी पृथक् और स्फुट योजना नहीं हो पाती इस प्रकार नवीन कविता में हमें प्रधान तीन ही भाव मिलते हैं—(१) रति, (२) करुणा और (३) उत्साह। पर इनको ले कर भी प्रबंध-काव्य बहुत ही कम लिखे जाते हैं। जो लिखे जाते हैं उनमें भी प्रगीतत्व (Lyricism) अधिक रहता है जीवन की विविध मार्मिक दशाओं का प्रत्यक्षीकरण नहीं। महाकाव्य तो नवीन हिंदी-कविता में ढूँढ़ने से भी न मिलेंगे, क्योंकि वह सदैव अतीत को लेकर चलता है। उसमें कवि को प्राचीन रूढ़ियों से बहुत अधिक बँधा रहना पड़ता है। पर यह युग प्राचीनता के विरोध का है। प्राचीनता का निर्वाह इस काल में अंधविश्वास कहा जाता है; नवयुग की साधना में वह बाधक समझा जाता है। अतः महाकाव्य की रचना के लिए जिन नियमों और रूढ़ियों के पालन की आवश्यकता होती है उनकी अवहेलना अर्वाचीन कवि जान बूझ कर करते हैं अथवा उनके निर्वाह की उनमें क्षमता ही नहीं होती। कुछ भी हो पर इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि महाकाव्यों का हिंदी-कविता में शोचनीय अभाव है। आज-कल की कविता में जो दोष अधिक खटकता है वह है प्रभावान्विति (Unity of impression) का अभाव। इसके कारण रसों के लयकारी स्वरूप का अभाव पाया जाता है।

हिंदी की प्राचीन और नवीन कविता में मुख्य भेद भाषा को प्रयोग-पद्धति और अप्रस्तुतों की योजना में पाया जाता है। यह तो स्पष्ट है कि कवि का लक्ष्य अपनी अनुभूति को लोक-सामान्य भूमि के वाहर ले जाने का नहीं रहा करता, वह श्रोता या पाठक अवश्य चाहता है। पर इधर योरप में जब से राजनीति, समाज-व्यवस्था इत्यादि के क्षेत्र में व्यक्तिवाद की प्रधानता हुई तब से उसका समावेश कला के क्षेत्र में भी होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ कवि अपनी व्यक्तिगत विशेषता दिखलाने के लिए इस ढंग से भावों की व्यंजना करने लगे जिस ढंग से उन भावों की अनुभूति सामान्यतः नहीं हुआ करती। कविता का आदर्श भूलकर कविगण काव्यानंद को ठीक उसी प्रकार का आनंद समझने लगे जिस प्रकार का किसी सजे कमरे, नक्काशी, वेलवूटे आदि को देखने से होता है। अतः वे युक्तियों के अनूठेपन और व्यंजना के वैचित्र्य को ही साध्य समझने लगे। भाव की सचाई, वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण की ओर उनकी दृष्टि न रही। इसका एक परिणाम यह हुआ कि अप्रस्तुत-रूपविधान में ही कल्पना का प्रयोग होने लगा। यह प्रवृत्ति योरप से भारत में आई है, जिससे सबसे पहले बँगला-साहित्य प्रभावित हुआ और बँगला की नकल से हिंदी-कविता में भी ये ही बातें आ गई हैं। अब तो इस बात में हिंदी के वर्तमान कवि बँगला वालों से भी आगे बढ़ गए हैं। उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता

कलागत विशेषता

मानने वाले पहले भी रहे हैं, भेद केवल वैचित्र्य के स्वरूप का रहा है। प्राचीन कविता में यह चमत्कार यमक और श्लेप इत्यादि अलंकारों से प्रदर्शित किया जाता था। नवीन कविता में अभिव्यंजना के वैचित्र्य के चमत्कार के लिए लक्षणाओं का अधिक सहारा लिया जाता है। इससे भापा की व्यंजकता तो बढ़ ही रही है पर साथ ही अँगरेजी और बँगला की नकल के कारण उसमें कुछ दुरूहता भी आ रही है। प्राचीन कविता के अप्रस्तुत-विधान में सादृश्य और साधर्म्य के साथ प्रभाव-साम्य दिखाया जाता था; पर अर्वाचीन कविता में प्रभाव-साम्य ही प्रधान हो गया है, सादृश्य और साधर्म्य गौण।

लाक्षणिक प्रयोगों के अंतर्गत ऐसे प्रतीकों का भी व्यवहार आ जाता है जिनसे किसी भाव, गुण अथवा व्यापार की व्यंजना होती है। जैसे शीतल और आनंददायक प्रकाश के लिए चंद्रमा, प्रफुल्लता के लिए प्रकाश, विपाद के लिए रात्रि, विलाप के लिए अश्रु इत्यादि। यह प्रतीकवाद रहस्यवाद को लिए हुए चलता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि जिसे धर्म में 'छाया' (Phantom) कहते हैं वही कविता में प्रतीक (Symbol) है। रहस्यात्मक कविता के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि वह कोई एक 'वाद' लेकर नहीं आई है। उसकी व्यंजना-प्रणाली का संबंध अभिव्यंजनावाद से है। उसका विपय सामान्य विपय नहीं है। कहीं कहीं तो अवश्य शुद्ध रहस्यवाद पाया जाता है। जहाँ पर दोनों का मिश्रण है वहाँ तो रहस्यवादी कविता स्पष्ट है। पर

इससे यह न समझना चाहिए कि अभिव्यंजना की वक्रता के विना रहस्यवादी कविता होती ही नहीं। उसके विना भी हुई है और हो सकती है। पर ऐसा कम होता है। आजकल की कविताओं में जहाँ अभिव्यंजनावाद की प्रधानता हुई कि लोग उसे रहस्यवादी कहने लगे। किंतु ऐसा कहना उचित नहीं। वस्तुतः विषय देख कर ही निश्चय करना चाहिए। महादेवी वर्मा की कविता का विषय प्रधानतः रहस्यात्मक रहता है।

यहाँ एक वात स्पष्ट कर देनी चाहिए। यों तो आजकल अभिव्यंजनावाद, रहस्यवाद, प्रतीकवाद, संवेदनावाद इत्यादि अनेक वादों की चर्चा साहित्य-क्षेत्र में खूब उठा करती है। इन वादों का विवेचन प्रस्तुत पुस्तक के क्षेत्र के वाहर है क्योंकि ये वाद या तो साहित्य-गोष्ठियों में विवाद (Table talk) के रूप में आते हैं अथवा पत्र-पत्रिकाओं में छपनेवाली समीक्षाओं में। इन्हें सामने रख कर, जहाँ इनका जन्म हुआ है वहाँ भी, कोई कविता नहीं करता, भारत की क्या वात। अतः यह वात नहीं है कि हमारे नवीन कवियों में मार्मिक अनुभूतियों का पता न हो, अभिव्यंजन-कला का वैचित्र्य ही वैचित्र्य हो।

नवीन कविता में कवित्त, सवैया इत्यादि प्राचीन छंदों का प्रायः त्याग किया जा रहा है। इनके स्थान में नए नए छंदों का विधान कहीं पर कुछ घटा वढ़ा कर किया जा रहा है। जहाँ पर केवल नवीनता-प्रदर्शन का विचार नहीं, वरन् संशोधन की दृष्टि रहती है वहाँ तक यह प्रवृत्ति श्लाघ्य है, किंतु जहाँ व्यक्ति-वैचित्र्य-

वाद को लेकर यह प्रवृत्ति चलती है वहाँ कविता को क्षति पहुँच रही है। इसके अतिरिक्त छंदविहीन कविताएँ भी लिखी जा रही हैं। पर यह देख कर संतोष होता है कि उसका प्रचार अधिक नहीं बढ़ रहा है। प्राचीन कवियों—कबीर, सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि ने पुरानी कविता में भी गीत लिखे हैं पर ये गीत उस युग की किसी बँधी हुई प्रवृत्ति के द्योतक नहीं है, किंतु प्रसाद-काल को कला की दृष्टि से गीत-काल के नाम से भी अभिहित कर सकते हैं।

यद्यपि यह युग रस, अलंकार, वृत्ति इत्यादि के विरोध का कहा जाता है पर यथार्थतः इनका त्याग न हुआ है और न हो सकता है। यह बात दूसरी है कि कहीं कहीं पर उनकी योजना इस नूतन ढंग से होती है कि उनमें कोई तात्त्विक अंतर न होते हुए भी नवीनता झलकने लगती है। पहले उत्प्रेक्षा, उपमा इत्यादि सांगोपांग रहती थी और आजकल प्रतीकों के बल पर चलने-वाली रूपकातिशयोक्तियों की ओर विशेष प्रवृत्ति है। वस्तुतः अभिव्यंजनावाद के युग में अलंकारों का त्याग असंभव है। उसी प्रकार बढ़ते हुए संवेदनावाद के पड़ोस में रीति इत्यादि की उपेक्षा कठिन है।

जिस प्रकार पुराने छंदों का त्याग हुआ है या हो रहा है उसी प्रकार प्राचीन काव्य-भाषाओं का भी। ब्रज और अवधी के स्थान में खड़ी बोली अपना पूर्ण आधिपत्य जमा चुकी है। दीर्घांतपदत्व और बड़ी बड़ी क्रियाएँ खड़ी बोली की कर्क-

शता का कारण हैं। इनका त्याग हो रहा है। व्याकरण की व्यवस्था होने के कारण नवीन कवियों की भाषा व्यवस्थित होती है। हाँ, व्यक्तिवैचित्र्य, स्वच्छंदप्रियता और नवीनता-प्रदर्शन की रुचि के कारण कहीं कहीं दुष्ट प्रयोग और अन्य भाषाओं के प्रयोगों का अनुचित मिश्रण मिलता है। कहीं कहीं न्यूनपदत्व भी रहता है जिससे कविता में दुर्बोधता आ जाती है। लक्षणा के प्रयोगों से अभिव्यंजना का वैचित्र्य तो अवश्य आ रहा है पर साथ ही भाषा में क्लिष्टता भी आ रही है। वर्तमान कविता में मुहावरों का अभाव खटकता है। मुहावरों का प्रयोग यदि किया भी जाता है तो प्रायः अँगरेजी का। उपर्युक्त कारणों से भाषा में कुछ अनर्गलता अवश्य आ रही है, किंतु यह सब होते हुए भी मानना पड़ेगा कि नवीन कवियों के हाथों में पड़ कर भाषा की व्यंजकता बढ़ रही है।

नामानुक्रमणिका